

धर्मायण

सूची

धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय
चेतना की पत्रिका

अंक : ६३

मास : आश्विन-मार्गशीर्ष

विक्रमाब्द : २०६०

अक्तूबर-दिसम्बर, २००३ ई०

सम्पादक-मण्डल

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

महन्त उद्धवदासजी

डा० श्रीरंजन सूरिदेव

प्रधान सम्पादक

प्रो० काशीनाथ मिश्र

सह-सम्पादक

मार्कण्डेय शारदेय

महावीर मन्दिर प्रकाशन
के लिए

प्रो० काशीनाथ मिश्र

द्वारा प्रकाशित

तथा

सर्चलाइट प्रेस में मुद्रित

पत्र-सम्पर्क:

धर्मायण,

पाणिनि-परिसर,

बुद्ध-मार्ग,

पटना-800001

मूल्य : सात रुपये

❖ सम्पादकीय	:	२
❖ हर हर महादेव	:	६
❖ गोस्वामी तुलसीदास	:	६
❖ ज्ञानगंज : गुप्त योगशिक्षा-केन्द्र	:	२१
❖ असमय के सखा	:	२४
❖ गीतासार : एक दृष्टि	:	३३
❖ श्रीविद्योपासना	:	३७
❖ देहाभिमान का मिट जाना ही मुक्ति है	:	४२
❖ ईश्वरगीता: एक अनुशीलन	:	४६
❖ या देवी सर्वभूतेषु मातृ-रूपेण संस्थिता	:	५२
❖ मृत्यु की अवधारणा	:	५६
❖ वनस्पतियों से मानवकल्याण	:	५६
❖ आहार-शुद्धि से ब्रह्मानन्द की प्राप्ति	:	६४
❖ भ्रूण-पंचाशिका	:	६६
❖ सूर के उपालम्भ	:	६८
❖ प्राचीन हिन्दू-वैज्ञानिक विचारों की वैश्विक श्रेष्ठता	:	७२
❖ राष्ट्रीय चेतना के अग्रदूत : स्वामी विवेकानन्द	:	७२
❖ पाठकीय प्रतिक्रिया	:	७६
❖ व्रत-त्योहार	:	८०

देवदत्तो यथा कश्चित्पुत्राद्याह्वाननामतः

सम्पादकीय

पदमपुराणीय कार्तिक महात्म्य में भगवान् श्रीकृष्ण ने सत्यभामा से कहा है कि जैसे वर्षा का जल बहकर अन्ततः समुद्र को प्राप्त करता है, वैसे ही शैव, सौर, गाणपत, वैष्णव और शाक्त मुझे ही प्राप्त करते हैं—

शैवाः सौराश्च गाणेशा वैष्णवाः शक्तिपूजकाः ।

मामेव प्रायुवन्तीह वर्षाभिः सागरं यथा ॥

(प्रथम-अध्याय : २६-२७)

पुनः उन्होंने यहीं यह भी कहा है कि मैं एक ही हूँ, पर इन पाँच रूपों में विभक्त हूँ। मेरी यह विभक्ति कार्य और नाम के आधार पर उसी प्रकार हुई है, जैसे देवदत्त नामक कोई व्यक्ति किसी के द्वारा पुत्र कहकर तो किसी के द्वारा पौत्र आदि कहकर पुकारा जाता है—

एकोऽहं पंचधा जातः क्रियया नामभिः किल ।

देवदत्तो यथा कश्चित् पुत्राद्याह्वाननामतः ॥

(प्रथम-अध्याय : २७-२८)

समुद्र और देवदत्त के रूप में प्रयुक्त ये दो उपमान एकात्मक ईश्वर की स्थिति को स्पष्टतः ईंगित करते हैं। वर्षा का जल चाहे नाले को ही माध्यम क्यों न बनाए, अन्ततः वह नदी-नदों को पकड़कर समुद्र को पा लेता है। वस्तुतः जल जलधि का ही था, इसलिए जल को अपने घर जाने की छटपटाहट होती है और वह माध्यम-पर-माध्यम पकड़ना चाहता है। मनुष्य भी इस मायने में जलीय गुणवाला है। वह भी चाहता है कि जिसका था उसी के पास रहूँ, जहाँ का हूँ, वहीं चला जाऊँ; जैसा था वैसा हो जाऊँ, जो था वही हो जाऊँ, जिससे अलग हुआ हूँ उसी से जुड़ जाऊँ।

पास जाना ही सामीप्य मोक्ष है; वहीं चला जाना ही सालोक्य मोक्ष है, वैसा हो जाना ही

सारूप्य मोक्ष है जुड़ जाना ही सायुज्य मोक्ष है तथा केवल जुड़ना नहीं, बल्कि विलीन हो जाना ही सर्वोत्तम कैवल्य मोक्ष है।

यह छटपटाहट मानव को ही क्यों होती है, जबकि अन्य प्राणी भी वर्षाजल के समान ही आए हैं? वास्तव में सभी चराचर जगत् ईश्वर के ही हैं, उन्होंने जिसे जिस रूप में टपकाया है, वैसे ही वह टपका है। पर चौरासी लाख तरह के प्राणियों में सबसे विवेकी मानव है, इसलिए सर्वाधिक चिन्ता होती है, अपने घर-द्वार की। वह हजारों मील दूर रहकर भी घरवालों से सम्बन्ध जोड़ते रहने का नया-नया रास्ता भी अपनाया करता है।

समुद्र को प्राप्त कर बिन्दु सिन्धु ही बन जाता है। वास्तव बिन्दु कभी सिन्धु नहीं है, पर बिन्दुओं की अथाह-अपार राशि ही तो सिन्धु है; इसीलिए सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य सायुज्य और कैवल्य को पाकर बिन्दु सिन्धु कहलाता है; वह वही हो जाता है।

अब उपर्युक्त देवदत्त को देखें। घर में पुत्रत्न उत्पन्न हुआ। कोई विशेष नहीं, साधारण-सी बात। विशेषता इसलिए नहीं कि प्रायः सभी घर में बच्चे होते हैं। हर बच्चे के साथ, जो होता है, वही बात देवदत्त के साथ हुई। बच्चा हुआ। खुशी हुई। बच्चे का नाम पड़ा। उसके साथ सम्बन्ध-पर-सम्बन्ध जुड़ने लगे। किसी ने कहा— मेरा बेटा है, किसी ने कहा— मेरा पोता है तो किसी ने कहा— मेरा भाई है।

खबर बच्चे के ननिहाल गई। अब ननिहाल से सम्बन्ध जुड़ा। किसी ने कहा— मेरा नाती है तो किसी ने कहा— मेरा भांजा है।

अब बच्चा बड़ा होने लगा। वह खेलने-पढ़ने लगा तो किसी ने कहा कि मेरा मित्र है तो किसी ने कहा कि मेरा शिष्य है।

जब वह बड़ा हुआ, तब विवाह हुआ। फिर सम्बन्ध बढ़े। किसी ने कहा कि मेरे पति हैं तो किसी ने कहा— मेरा दामाद है। किसी ने कहा— मेरे जीजा हैं। यदि बड़ी या छोटी बहन रही और उसका भी विवाह हुआ और बच्चे भी रहे या हुए तो भी वही देवदत्त क्रमशः भैया, मामा कहलाया। यदि बुआ और चाचा रहे तो देवदत्त को भतीजा कहा।

अब देवदत्त भी पिता बना। पुत्र का विवाह हुआ तो उसके ससुर का समधी और पतोहू का ससुर बना। फिर पुत्र के पुत्र हुआ और देवदत्त दादा बना। यदि पुत्री भी रही और उसके पुत्र हुआ तो नाना बना।

भला बताइए, देवदत्त तो एक ही था; पर वही पुत्र से लेकर नाना तक हो गया। उसी के इतने पर्याय बन गए। इतने ही क्यों, ये तो मोटा-मोटी रहे और भी कितने सम्बन्ध हैं।

एक ही देवदत्त है, पर सम्बन्ध भिन्न हैं। ये सम्बन्ध भिन्न हैं, इसलिए वह भी भिन्न हो जाता है। उसका व्यवहार भी भिन्न हो जाता है। वह पहले जब किसी को पिता कहता था और अब जिस-किसी का नाना है, दोनों देवदत्त में बहुत का अन्तर है। अवस्था का परिवर्तन होता है। पिता कहने और पिता कहलाने के अन्तर के समान अनेक रूप होते हैं मानव के।

भगवान् ने कल्पित देवदत्त के उदाहरण से यही स्पष्ट किया है कि मैं अनेक नहीं हूँ, पर सम्बन्ध-स्वरूप के अनुसार मैं अनेक रूपों में हूँ, अतः मुझे ही लोग दुर्गा, गणेश, शिव या सूर्य आदि के रूप में पूजते हैं, उपासना करते हैं, आराधना करते हैं।

इस तथ्य का उद्घाटन तो वैदिक, औपनिषदिक एवं पौराणिक उक्तियों के माध्यम से अनेकशः किया गया है। उदाहरण के लिए देखें तो सभी को ब्रह्म बताया गया है; सभी को परब्रह्म, परमात्मा, ओंकार कहा गया है। शास्त्र-निर्दिष्ट त्रयस्त्रिंशत्कोटिसुरश्रेणी... (गणेशसहस्रनाम, गणेश पुराण)— तैंतीस करोड़ भले ही देवता हों, पर

तैंतीस करोड़ ब्रह्म, परब्रह्म या परमात्मा नहीं हो सकते, वे तो एक ही हैं। बिन्दु-बिन्दु देव हैं और उनका निधान सिन्धु-ब्रह्म, परब्रह्म, परमात्मा। फिर जब हम विष्णु को, शिव को, देवी को, गणेश को या सूर्य को परब्रह्म कहते हैं तो स्पष्ट है कि वहाँ बिन्दुरूपात्मक ब्रह्म की बात न होकर सिन्धुरूपात्मक की है। बिन्दु में भेद है, पर सिन्धु में कहीं? असंख्य बिन्दुओं का एकीभाव ही तो सिन्धु है।

इस तथ्य को सरल करने में सहस्रनाम-स्तोत्रों ने सबसे अधिक भूमिका निभाई है। प्रत्येक सहस्रनाम-स्तोत्र में, चाहे वह किसी देवता का हो, घुम-फिरकर सभी प्रमुख देवियों या देवता का नाम आ ही गया है।

यदि महाभारत के विष्णु-सहस्रनाम को लें तो इसमें शिव के प्रचलित पर्यायों में शर्व, शिव, स्थाणु, उग्र, महादेव, स्वयम्भू, शम्भु, ईशान, ईश्वर आदि आए हैं। सूर्य के पर्यायवाची— गभस्तिनेमि, अर्क, आदित्य, रवि, विरोचन, सूर्य, सविता आदि एवं देवीवाची— महाशक्ति, लक्ष्मी आदि हैं। यद्यपि गणेश का स्पष्ट रूप से नाम नहीं आया है, पर गणेशपुराणोक्त गणेश-सहस्रनाम के वनमाली, यज्ञपति, यज्ञ, शार्ङ्गी, गदाधर, सहस्रशीर्षापुरुष, सहस्राक्ष, सहस्रपात्, विष्णु, चक्रपाणि, ब्रह्मण्य, उपेन्द्र आदि शब्द वैष्णव और गाणपत भाव को पुष्ट करते हैं।

उक्त गणेशसहस्रनाम में शिवबोधक— मृत्युंजय, दिगम्बर, कमण्डलुधर, कपर्दी, स्थाणु, पशुपति, वामदेव, शिव, शूली, रुद्र, ईश, सदाशिव आदि हैं। देवीवाचक— भारती, मोहिनी (विष्णु का एक नारीरूप में अवतार) शम्भुशक्ति, शक्ति, प्रकृति तथा सूर्यवाचक— धृणि, रवि आदि हैं।

यदि महाभारत के अनुशासनपर्व के शिवसहस्रनाम को भी देखा जाए तो इसमें भी विष्णु, गणेश, सूर्य एवं दुर्गा के नाम किसी-न-किसी तरह आ ही गए हैं। यद्यपि सामान्यतः विष्णु का अर्थ शिव, दुर्गा, गणेश या सूर्य इनमें से कोई नहीं होता है, पर व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ ग्रहण किया जाए

तो अवश्य ही हो सकता है। विष्णु का अर्थ है जो सर्वत्र व्याप्त हो। इस आधार पर शिव भी वैसा ही हैं, दुर्गा (देवी) भी वैसी ही हैं, गणेश और सूर्य भी वैसे ही हैं; फिर ये सभी विष्णु क्यों नहीं कहला सकते? अभेदद्रष्टाओं के लिए तो एक हैं ही; केवल सामान्य जन के समक्ष ही संशय है। शिव कल्याण का वाचक है। विष्णु, शंकर, गणेश, सूर्य और दुर्गा आदि सभी देवता तो कल्याण हेतु ही मूर्त हैं, फिर वे शिव क्यों नहीं कहला सकते? इसी तरह 'सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयति इति सूर्यः'— इस व्युत्पत्ति को देखा जाए तो सभी देवता लोगों को कर्म (कर्तव्य) की प्रेरणा देते हैं; इसलिए सभी सूर्य के कहलाने के अधिकारी हैं। दुःखेन गम्यते प्राप्यते या सा दुर्गा— इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस देवी की कृपा आसानी से प्राप्त नहीं होती, वे दुर्गा हैं। इस आधार पर किसी देवता की कृपा सहज प्राप्य नहीं है, अतः दुर्गा (पुलिंग) कहला सकते हैं, गणेश-सहस्रनाम में कहा भी गया है।

वास्तव में रूपविशेष, लिंगविशेष, आयुधविशेष एवं वस्त्रविशेष आदि ऊपरी गुणोंवाले अभिधानों से हटकर देखें तो आन्तरिक गुणों एवं सूक्ष्म दृष्टि से सभी साम्य रखते हैं। सभी एकरूप हैं; इसलिए सभी आदि, अनादि, अनन्त, अखण्ड, अभेद हैं।

सामान्य जन इस यथार्थ से जल्दी परिचित नहीं होते, इसलिए अनेक आख्यानों, स्तोत्रों आदि के माध्यम से इस रहस्य को समझाने के लिए शास्त्रकार लोक-प्रचलित उपमानों का सहारा लेते गए हैं। देवदत्त का उदाहरण भी इसी कोटि का है।

पर सामान्य जन के सामने ऊहापोह की स्थिति होती है। आम आदमी किसी तथ्य को अपने तराजू पर तौलना चाहता है। तौल ठीक तो मान्य और बेठीक तो कैसे माने। वह अनेक चित्रों को देखता है, अनेक मूर्तियों को देखता है, सबके अलग-अलग कुछ पूजा-विधानों को भी देखता, सुनता, जानता है। फिर इस विभिन्नता में अभिन्नता को कैसे

समझे? उसके सामने प्रश्न है कि यदि विष्णु ही शिव और शिव ही विष्णु है तो दो क्यों? कार्य-भिन्नता क्यों? इसी तरह दुर्गा, गणेश और सूर्य भी विष्णु हैं तो अन्तर क्यों है?

वास्तव में इसके रहस्य का उद्घाटन 'क्रियया नामभिः किल' के माध्यम से सम्भव है। एक व्यक्ति सदैव एक ही कार्य तो नहीं करता रहता है। खेलता है तो खिलाड़ी है और पढ़ता है तो पाठक है। अब खेलते समय पुस्तक कैसे रह सकती है और पढ़ते समय गेंद वगैरह कैसे लेकर पढ़ेगा? खिलाड़ी खेल की सजा में रहेगा, पाठक विद्यार्थी की। था तो एक ही। भगवान् को जब विष्णुकर्म करना था तब विष्णु थे, जब शिवकर्म करना था, तब शिव थे, जब गणेशकर्म करना था तब गणेश थे, जब सूर्यकर्म करना था तब सूर्य थे तथा जब दुर्गाकर्म करना था तब दुर्गा भी थे।

यह संसार एक रंगमंच है और प्रभु ही नाटककार, सूत्रधार, अभिनेता और नाट्यसामग्री हैं। अभिनय करने के लिए विविध रूप धारण करने ही पड़ते हैं। सामान्य अभिनेता भी कभी-कभी स्त्रीरूप धारण कर लेता है तो विष्णु दुर्गा या लक्ष्मी आदि क्यों नहीं बन सकते हैं? शिव क्यों नहीं बन सकते हैं? गणेश क्यों नहीं बन सकते हैं? दुर्गा क्यों नहीं बन सकती हैं?

फिर प्रश्न उठता है कि गणेश और शिव में पिता-पुत्र सम्बन्ध है; इसी तरह पार्वती और गणेश में भी: फिर पार्वती ही गणेश हैं या शिव ही गणेश हैं तो यह कैसे सम्भव है कि एक ही समय में एक ही परमेश्वर की तीन मूर्तियाँ हों? वास्तव में परमेश्वर 'अनेकरूपभाक्' कहे गए हैं। वे तीन ही क्यों, समस्त चराचर जगत् ही उनका रूप है।

पुनः प्रश्न उठता है कि यदि ये सभी एक हैं तो पूजाविधानों के अन्तर्गत विहित-अविहित की बात क्यों है? जहाँ विष्णु के लिए तुलसीपत्र विहित है, वहीं गणेश के लिए अविहित क्यों है— "न तुलस्या विनायकम्।" जहाँ गणेश के लिए दूर्वा (दूब) विहित है, वहीं देवी के लिए अविहित क्यों है— "न दूर्वया यजेद्वीम्।" (कहीं-कहीं देवी के लिए विहित भी कहा

गया है।) जो धतूरा और आक शिव को प्रिय हैं वे विष्णु को प्रिय क्यों नहीं- “नार्क नोन्मत्तक।”

वास्तव में नाम-क्रियारूप ईश्वर को जिस रूप में जो अच्छा लगा और अच्छा नहीं लगा, उस रूप के साथ हम वैसा ही समर्पण करते हैं। यह हमारे साथ भी होता है। कहीं किसी के यहाँ गए। उसने भोजन कराया, कोई चीज अच्छी नहीं लगी और दूसरी अच्छी लगी। जो अच्छी लगी खूब खाया और जो अच्छी नहीं लगी, उसे छोड़ दिया। खिलानेवाले ने देखा कि औरों ने तो खाया, पर इन्होंने इसे छोड़ दिया। इसका अर्थ कि इनको यह सामग्री प्रिय नहीं है या कोई बात है। वही चीज अन्यत्र अच्छी लगी और खूब खाया। खानेवाला तो एक ही था। अब दोनों खिलानेवाले क्या समझेंगे?

भगवान् ने पाँच ही देवताओं का नाम क्यों लिया? देवताओं की संख्या तो तैतीस करोड़ तक मानी जाती है। वस्तुतः सम्पूर्ण जगत् ही देवमय है, ब्रह्ममय है; फिर भी सम्प्रदाय-विशेष के अनुसार इन पाँचों की मुख्यता है। भारतीय संस्कृति में सगुणोपासना के अन्तर्गत वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत और सौर ये पाँच ही सम्प्रदाय विशेषतः प्रचलित हुए। और समन्वयवादी मनीषियों ने विभेद को दूर कर प्रत्येक पूजन में इन्हें स्वीकार किया। जहाँ वैष्णवों ने “विष्णु-शिव-गणेश-सूर्य-दुर्गाभ्योनमः” कहकर नमस्कार किया, वहीं शैवों ने शिव-विष्णु-सूर्य-गणेशेभ्यो नमः, गाणपतों ने गणेश, विष्णु-शिव-दुर्गासूर्येभ्यः नमः तथा सौरों ने सूर्य-शिव-गणेश-दुर्गाभ्यो नमः कहकर सम्प्रदायानुसार विशिष्ट देवता को स्थान दिया, नमस्कार किया।

ये क्रम कार्यानु रूप भी हैं। विष्णु की प्रधानता में जहाँ साध्य है, वहाँ उन्हीं को प्राथमिकता दी जाएगी; इसी तरह अन्य देवताओं के साथ भी यही बात है। इनके अतिरिक्त अनेक अवसरों पर वेदियों (स्थण्डिलों) के माध्यम से अनेक देवताओं की पूजा करते हैं, वे भी एक ही हैं। इस तथ्य को गीता में स्पष्ट करते हुए भगवान् ने कहा है-

यो यो यं यं तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

(अध्याय : ७-२१)

अर्थात् जो-जो भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप की श्रद्धापूर्वक अर्चना करना चाहता है, उसकी श्रद्धा को उस देवता के प्रति मैं स्थिर करता हूँ।

इससे लाभ यह होता है कि वह उस देवता की आराधना से मनोवांछित फल प्राप्त करता है, जो मेरे द्वारा ही विहित है-

स तथा श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान्हे तान्॥

(गीता : ७-२२)

यह एकत्व की ही परिणति है। इसी एकत्व को स्थापित करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमहुर्यो दिव्यः स सुयज्ञो गरुत्मान्।

एकं सद्भिर्वा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(१.१.१६४.४७)

यही तथ्य दूसरे शब्दों में निम्न श्लोक के माध्यम से स्फुटित है-

एकैव शक्तिः परमेश्वरस्य विविधा वदन्ति व्यवहारकले।

भोगे भवानी पुण्ये लक्ष्मीः कोपे तु दुर्गा प्रत्ये तु कली॥

वैष्णव कवि गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्री रामचरितमानस में सरस्वती, गणेश, शिव, पार्वती के साथ श्रीसीता और श्रीराम की बन्दना कर तथा शिवकथा को समाविष्ट कर विभेद दूर किया है। गीता के विभूतियोग में भी भगवान् ने अपने विविध रूपों को स्पष्ट किया है। अर्जुन ने भी विराट् रूप में यही देखा।

वास्तव में सर्व देवी मयं जगत्, सीयराममय सब जगत जानी, स (शिवः) एव सर्वम् (कैवल्योपनिषद्-६) त्वमेव (महाविष्णुः) सर्वस्वरूपः (त्रिपाद् विभूतिनारायणोपनिषद्) आदि सूक्तियाँ ही भक्ति की पराकाष्ठा के सूत्र हैं। हमें किसी एक में सबको सन्निहित कर देखना चाहिए, तभी भक्ति हो जाएगी। कारण यह है कि पूजा-अर्चना भले ही अनेक रूपों की करें, पर भक्ति तो परम अनुरक्ति है- स परानुरक्तिरीश्वरे (शाण्डिल्य)। यह तो किसी एक की ही सम्भव है; अतः एकनिष्ठ होकर भी सर्वनिष्ठ होना ही भारतीय संस्कृति का मूलतत्त्व है, ताकि किसी के प्रति अनादर-भाव न पनप सके।



हर हर महादेव

□ आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

ज्योतिर्लिंग प्रकट हुआ : फाल्गुन के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को आप सब लोग शिवरात्रि का व्रत करते ही होंगे, किन्तु क्या कभी आपने यह भी जानने का प्रयत्न किया है कि यह व्रत क्यों किया जाता है? जैसे विष्णु भगवान् का अपने चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा, पद्म लिये हुए गरुड-वाहनवाला ध्यान करने का स्वरूप है और शालग्राम उनका प्रतीक हैं, वैसे ही वृषभ-वाहनवाले, जटाधारी, मस्तक पर चन्द्रमा धारण किए हुए, शरीर पर चिताभस्म पोते हुए, सर्पों के आभूषण बनाकर धारण किए हुए, गले में मुण्डमाला लटकाए हुए, हाथों में डमरू, त्रिशूल, खप्पर, वज्र, खड्ग, परशु, पाश, घंटा और अंकुश लिए हुए, कमर में बाघम्बर लपेटे हुए और कन्धे पर हाथी की खाल डाले हुए रूपवाले शिव का तो यह प्रकट रूप है और लिंग या पिण्डी उनका प्रतीक है। फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी को शिव ने जलती हुई आग की लपटों से भरे खम्भे के रूप में अपना यह प्रतीक रूप प्रकट किया था। इसीलिए उस दिन सब लोग व्रत रखते हैं, जागरण करते हैं।

यह ज्योतिर्लिंग क्यों प्रकट हुआ था; उसकी कथा यह है कि एक बार पाञ्चकल्प के प्रारम्भ में जब ब्रह्मा ने देवता उत्पन्न कर लिए, तब घूमते-घामते वे क्षीरसागर के तट पर जा पहुँचे। वहाँ वे देखते क्या हैं कि शेषनाग पर भगवान् नारायण सोए पड़े हैं और लक्ष्मीजी धीरे-धीरे उनके चरण चाँप रही हैं। उनके आस-पास गरुड, नन्द और सुनन्दन आदि उनके गण हाथ बाँधे खड़े हैं।

अभी तक तो ब्रह्मा यही समझे बैठे थे कि यह सारी सृष्टि रचनेवाला अकेला मैं ही हूँ, पर

नारायण को देखकर वे चौंक उठे कि यह दूसरा कौन निकल आया, जो ऐसे आराम के साथ पड़ा नींद ले रहा है और मेरे आने पर भी उठ नहीं रहा है। जब ब्रह्मा ने उन्हें पुकार कर कहा— “उठो, मैं तुम्हारा स्वामी आया हूँ।” तब भगवान् नारायण आँखें खोलकर उठ बैठे और बोले— “आओ वत्स! आओ बैठो। ये भीहें क्यों चढ़ी हुई हैं?” ब्रह्मा झुँझला उठे— “जानते नहीं, मैं तुम्हारा भी रक्षक और संसार का पितामह हूँ।” भगवान् नारायण सीधे बैठ गए और कहने लगे— “अरे वत्स! तुम तो मेरे नाभिकमल से उत्पन्न होनेवाले मेरे पुत्र हो, तुम संसार को अपना क्यों बताए डाल रहे हो। सारा संसार तो मुझमें बसा पड़ा है।” अब तो दोनों में लड़ाई छिड़ गई। ब्रह्मा अपने हंस पर और विष्णु अपने गरुड पर चढ़कर एक दूसरे से जूझ पड़े।

यह देखकर देवताओं के हाथ-पाँव फूल गए और वे दौड़े जा पहुँचे कैलास पर्वत पर शिव के पास। उनकी बात सुनकर शिव ने कहा— “ठहरो; मैं उनका सारा झगड़ा निपटाए देता हूँ।” देवताओं, अपने गणों और पुत्रों को लेकर शिव वहाँ जा पहुँचे, जहाँ ब्रह्मा और विष्णु दोनों दिव्यास्त्र चला-चलाकर लड़े जा रहे थे। अचानक आग की लपटों से बने चमचमाते हुए ज्योतिर्मय खम्भे के रूप में शिव उनके बीच में जा खड़े हुए। ब्रह्मा और विष्णु दोनों चौंक उठे— “यह बीच में क्या आ खड़ा हुआ? हम दोनों के अतिरिक्त यह तीसरा कौन आ धमका? चलो, देखा जाए यह ऊपर कहाँ तक है और नीचे कहाँ तक है?”

विष्णु ने वराह का रूप धारण किया और बड़ी झोंक के साथ नीचे की ओर उतर चले और ब्रह्मा ऊपर की ओर उस अग्नि के खम्भे का सिरा देखने के लिए ऊपर उड़ चले। विष्णु तो नीचे पाताल तक जाकर ऊपर चले आए, क्योंकि उन्हें उस खम्भे का अन्त नहीं मिल पाया। ब्रह्मा भी उड़ते-उड़ते बहुत ऊपर तक उड़े चले गए, पर उसका सिरा हो तब तो दिखाई पड़े। उन्हें सिरा तो दिखाई नहीं दे पाया, पर अचानक ऊपर से गिरता हुआ एक सुगन्धित खिला हुआ केतकी का फूल उन्हें बीच में ही मिल गया। केतकी के फूल ने पूछने पर कहा— “अजी, मैं तो इस नए खम्भे के यही बीच से ही आ गिरा हूँ।”

ब्रह्मा को तो मानो काठ मार गया। वे सोचने लगे कि जब यह बीच से गिरा है तो इसके ऊपर का छोर तो न जाने कहाँ तक होगा? उन्होंने केतकी के फूल से कहा— “देखो, यह सारा संसार मेरा ही बनाया हुआ है। तुम चलकर बस इतना कह देना कि ब्रह्मा ने इस ज्योतिःस्तम्भ के ऊपर का सिरा देख लिया है।” केतकी के फूल ने ब्रह्मा की बात मान ली। वे केतकी के फूल को साथ लिये क्षीरसागर लौट आए, जहाँ विष्णु बहुत उदास हुए आए बैठे थे।

विष्णु ने ब्रह्मा के आते ही कह दिया— “मैं तो बहुत नीचे तक जाकर भी उसकी थाह नहीं पा सका हूँ।” ब्रह्मा ने कहा— “वाह! मैं तो ऊपर का सिरा देख आया हूँ और वहाँ से यह केतकी का फूल उतारे लिये चला आ रहा हूँ। इस फूल से ही पूछ देखो।” विष्णु ने पूछा भी नहीं, पर केतकी के फूल ने अपने-आप ब्रह्मा की बात को दोहरा दिया। विष्णु मान गए कि “हाँ! सचमुच आप महान् और पूजनीय हैं।”

वे ब्रह्मा की पूजा करने जा ही रहे थे कि उस अग्निस्तम्भ से भगवान् शिव ने प्रकट होकर विष्णु से कहा— “तुमने सत्य वचन कहा है, इसलिए

संसार में तुम्हारी पूजा होती रहेगी।” और फिर उन्होंने अपनी भौंहों के बीच से एक भयंकर कृष्ण वर्ण का भैरव उत्पन्न करके उससे कहा कि इस झूठे ब्रह्मा की पूजा तो कर डालो। भैरव ने झट ब्रह्मा के केश पकड़कर उनका वह पाँचवाँ सिर काट उतारा, जिससे वे झूठ बोले थे। यह तो कहिए कि विष्णु ने शिव से प्रार्थना की कि अब इनपर कृपा कीजिए और इनको क्षमा कर दीजिए।

शिव ने ब्रह्मा से कहा कि तुमने कपट किया है और तुम झूठ बोले हो, इसलिए संसार में कहीं तुम्हारी पूजा नहीं होगी। जब ब्रह्मा ने बहुत हाथ-पैर जोड़े, तब शिव ने कहा— “अच्छा, तुम्हारा यह कटा हुआ सिर तो मैं अपनी मुण्डमाला में पिरोए लेता हूँ। यज्ञों में तुम्हारी पूजा हुआ करेगी। तुम्हारे आवाहन के बिना कोई यज्ञ सफल नहीं हो पाएगा।”

फिर उन्होंने केतकी के फूल से कहा— “अरे झूठे फूल! आज से तू मेरी पूजा में कभी नहीं लिया जाया करेगा।” वह भी जब बहुत रोने-गिड़गिड़ाने लगा, तब शिवजी ने कृपा करके कहा— “अच्छा, विष्णु और दूसरे देवता तुझे धारण किया करेंगे और मेरे मण्डप की रचना में भी तू लगाया जा सकेगा। मेरा यह स्तम्भ का रूप निष्कल रूप है। इस लिंगरूप में ही अब से मेरी पूजा हुआ करेगी।”

✦ ✦ ✦

दूसरी कथा यह है कि वाराह कल्प में एक बार भगवान् शंकर वहाँ जा पहुँचे, जहाँ बहुत से ऋषि लोग यज्ञ आदि करने में लगे हुए थे। शिव अपना अत्यन्त सुन्दर रूप बनाकर तीन नेत्र, दो भुजा और अधमुँदे नेत्र किए हुए, पागल के समान घूमते वहाँ जा पहुँचे। ऋषि लोग तो कुशा और और समिधा (ढाक की सूखी टहनियाँ) आदि लेने निकल गए थे। उस बिखरी जटाओंवाले अत्यन्त सुन्दर नंगे युवक को देख कर मुनिपत्नियाँ उसपर रीझ उठीं। वसिष्ठजी की पत्नी अरुन्धती ने उन सबको बहुत रोका भी, फिर भी वे सब युवक शंकर

को देखती ही रह गई। इतना ही नहीं, वे गाने-नाचने भी लगीं, उनके आगे पहुँचकर उनसे पूछने भी लगीं और बैठने को कहने लगीं, पर शिव थे कि अपनी मस्ती में किसी को देख तक नहीं रहे थे और अपनी लहर में इधर-उधर घूमे जा रहे थे। मुनियों ने लौटकर जब यह दृश्य देखा, तब उन्होंने तत्काल युवक शंकर को शाप दे डाला— “तू नंगा होकर स्त्रियों के बीच में घूम रहा है, इसलिए तत्काल तेरा लिंग गिर जाए।” गिरते ही शिव का वह लिंग बड़े वेग से धधक उठा और चारों ओर घूमता हुआ जो कुछ मिला सबको जलाता हुआ घूमने लगा।

अब तो मुनि लोग ब्रह्मा के पास दौड़े जा पहुँचे कि चलकर अपनी सृष्टि बचाइए। ब्रह्मा ने कहा— “वे तो साक्षात् शिव हैं, उनका सत्कार करना तो दूर रहा, तुमने उल्टे उन्हें शाप दे डाला। अब भोगो। उनके तेज को कोई रोक पा सकता है? आप लोग उन्हीं के पास चले जाइए।”

अब तो मुनि लोगों की जान पर बन आई। वे कैलास पर आकर शंकर की स्तुति करने लगे। शिव ने प्रकट होकर उनसे कहा— “केवल पार्वती ही मेरे इस लिंग को धारण कर सकती हैं, दूसरा कोई इसे नहीं सँभाल सकता। पार्वती ने योनिरूपा होकर उस लिंग को झट आ धारण किया। वही लिंग हाटकेश हुआ, जो गुजरात में प्रतिष्ठित है। तभी से शिवलिंग की अर्चना होने लगी।”

✦ ✦ ✦

स्कन्दपुराण के अनुसार जब ब्रह्मा और विष्णु में इस बात पर गर्मा-गर्मी हो चली कि हम दोनों में कौन बड़ा है, तब उनके बीच ऐसा तपता हुआ, लपटों से घिरा हुआ लिंग आ प्रकट हुआ, जिसके न सिरे का ठिकाना था न तली का। उसे देखकर तो ब्रह्मा और विष्णु दोनों घबरा उठे और वेद के मन्त्र पढ़-पढ़कर उसकी स्तुति करने लगे। उसी समय उस ज्योतिर्लिंग में से गोरे-चिट्टे, नीले गलेवाले, हाथों में फरसा और हिरण का छौना लिये हुए शिव प्रकट हो निकले और बोले— “मैं तुम दोनों से प्रसन्न हूँ; वह माँगो।”

दोनों ने हाथ जोड़कर कहा— “आपने जो यह लपटों से घिरा हुआ प्रचण्ड रूप बना खड़ा किया है, इसकी तौंस से सब झुलसे चले जा रहे हैं और धरती भी नीचे रसातल की ओर खिसकी चली जा रही है। इसलिए आपसे यही प्रार्थना है कि अपना यह तेज आप समेटे धरिए।”

उनकी बात मानकर शिव ने अपना तेज जो समेटा तो वह अरुणाचल पहाड़ जा बना, जो बड़ा पवित्र शिव का ही रूप और उनके तेज से भरा हुआ ज्योतिर्लिंग ही माना जाता है।

इस प्रकार ज्योतिर्लिंग प्रकट हुआ और शिवलिंग की पूजा की जाने लगी।

🔔

शिवेति नामपीयूष-वर्षाधारापरिप्लुताः। संसारदवमध्येऽपि न शोचन्ति कदाचन।।

जो शिव के नाम-रूपी अमृतवर्षा की धारा में गोता लगाते हैं, वे संसार-रूपी वनाग्नि के बीच खड़ा होकर भी कभी चिन्ता नहीं करते हैं।

शिवनाम्नि महद्भक्तिःजाता येषां महात्मनाम्। तद्विधानां तु सहसा मुक्तिर्भवति सर्वथा।।

जिन महात्माओं के मन में शिव के नाम के प्रति भक्ति हो गई है, ऐसे लोगों की सहसा और सर्वथा मुक्ति होती है।

गोस्वामी तुलसीदास

□ आचार्य किशोर कुणाल

गोस्वामी तुलसीदास महर्षि वाल्मीकि और व्यास मुनि के बाद इस देश के सर्वश्रेष्ठ कवि तथा भगवान् बुद्ध और आदि शंकराचार्य के बाद इस देश के सबसे बड़े लोकनायक थे। वे महान् समन्वयकारी और मर्यादा के पुरोधा कवि थे। लोकप्रियता के निकष पर विश्व-इतिहास के महानतम महापुरुषों में उनकी गणना सहज ही की जा सकती है।

तुलसी ने भक्ति के पावन क्षेत्र में मात्र एक निकष रखा—सीताराम के चरणों में प्रेम। यदि कोई रघुपति-भक्त है तो वह भले ही पशु-पक्षी, देव-मानव, गन्धर्व-असुर कोई भी क्यों न हो, तुलसी के लिए वन्दनीय है—

रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते।

बदरुं पद सरोज सब केरे। जो बिनु काम राम के चरे।

किन्तु यदि रामचरणों में प्रीति नहीं है तो वह कितना भी आत्मीय क्यों न हो, तुलसी के लिए त्याज्य है—
तजिए ताहि कोटि बैरी सम, जदपि परम स्नेही।

सीताराम-प्रीति ही तुलसी की भक्ति की एकमात्र कसौटी है; वर्णविचार या विद्वता या अन्य कोई आधार नहीं है। अतः तुलसी पर वर्णवाद या पक्षपात का आक्षेप उनके प्रति घोर अन्याय है। यदि तुलसी ब्राह्मणवाद के पोषक होते तो वे परशुराम को नायक मानकर काव्य की रचना करते। आखिर वे भी तो विष्णु के अवतार ही थे और तीन रामों में—बलराम, परशुराम और दाशरथि राम में—से एक थे; देश में पूजित एवं वन्दित। किन्तु उन्होंने उस परशुराम को नायक नहीं बनाया, जिसके बारे में यह उक्ति थी—

अग्रतः चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः।

इदं ब्राह्मम् इदं क्षात्रं शापादपि शरादपि।।

जिसके मुख पर चारों वेद तथा जिसकी पीठ पर शर-सन्धानित धनुष हो, जिसमें ब्रह्मतेज और क्षात्र शक्ति का मणिकांचन-संयोग हो तथा जो शाप और शर दोनों से शत्रुओं को सहजता से ध्वस्त कर सकता हो; ऐसे तेजस्वी हरि-अवतार को उन्होंने अपने काव्य का नायक नहीं बनाया; बल्कि लक्ष्मण के साथ संवाद में इस तेजस्वी पुरुष को प्रहसन का पात्र बना दिया है गोस्वामीजी ने।

शूद्रों के अधिकारों के प्रति उन्हें थोड़ी भी आपत्ति होती, तो शम्बुक की कथा का विशद वर्णन वे रामचरितमानस में करते। किन्तु 'वाल्मीकिरामायण' के उत्तरकाण्ड में बाद में जोड़े गए इस प्रक्षेप को गोस्वामीजी ने मानस में स्थान ही नहीं दिया। शम्बुक-कथा बाद में किसी प्रच्छन्न कवि का प्रक्षेप है, जो रामकथा के अमृत में विष-सदृश है; राम के उदात्त चरित में एक व्रण है, जो वाल्मीकि-जैसे क्रान्तदर्शी सर्जक की कृति नहीं, बल्कि सनातन धर्म के भीतरधाती किसी कवि का दुष्कृत्य है। तुलसी, कम्ब और अन्य परवर्ती कवि इस व्रण की भयानकता पहचानते थे; अतः अपनी रामकथाओं में इसे स्थान नहीं दिया।

तुलसी के काव्य का खलनायक कौन है? ऋषि पुलस्तिक का वंशज, वेदों का प्रकाण्ड पण्डित रावण। यदि गोस्वामीजी में लेशमात्र भी ब्राह्मणवाद होता तो वे रावण को खलनायक नहीं चुनते और लक्ष्मण के हाथों परशुराम की दुर्गति नहीं कराते। उनकी दृष्टि यदि लोकाभिमुख नहीं होती तो केवट, निषादराज और शबरी के आख्यानों का विशद वर्णन कभी नहीं करते।

कोई कवि जब महाकाव्य की रचना करता है, तब उसमें उदात्त एवं दलित केवट के भाग्य की सराहना करते हुए देवता-गण भी कहते हैं कि केवट के समान पुण्यात्मा (पुण्यपुंज) तीनों लोक में कोई नहीं है—

केवट राम-राजयमु पावा। पानि कठवता भरि लेइ आवा।।
अति आनन्द उमगि अनुरागा। चरन-सरोज पखारन लागा।।
बरसि सुमन, सुर सकल सिहाहीं। एहि सम फुन्य-पुंज कोउ नाहीं।
पद पखारि जलपान करि, आपु सहित परिवार।
पितर पार करि प्रभुहि पुनि, मुदित गयउ लेइ पार।।

(मानस : २.१०१)

और जब सीताजी की दी हुई मणि जड़ी हुई अंगूठी केवट के 'उतराई' के रूप में देने लगे, तब उसने कहा—

नाथ! आज मैं काह न पावा। भिटे दोष दुख दारिद दावा।।
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आज दीन विधि बनि भलि भूरि।।
अब कछु नाथ न चाहिए मोरे। दीनदयाल! अनुग्रह तोरे।।

◊ ◊ ◊

द्वार-द्वार दीनता कही, कढ़ि रद, परि पाहूँ।
हैं दयाल दुनी, दस दिसा, दुख-दोष-
दलन-छम कियो न सँभाषन, काहूँ।।

तनु-जन्यो कुटिल कीट ज्यों,
तज्यो मातु-पिताहूँ।

काहे को रोष-दोष काहि धौं, मेरे ही अभाग,
मोसों सकुचत सब कुड़ छाहूँ।।

(विनयपत्रिका : २७५)

मैंने द्वार-द्वार जाकर दौं निकालकर यानी गिड़गिड़ाकर और पाँव पड़कर अपनी दीनता का रोना रोया। यद्यपि इस संसार में दसों दिशाओं में यानी सर्वत्र दुःख-दोष मिटा सकनेवाले बहुत से सक्षम लोग हैं, तदपि किसी ने मुझसे बात तक नहीं की। मेरे माता-पिता ने मुझे कुटिल कीट (कीड़े-मकोड़े) की भाँति छोड़ दिया। मैं किसपर रोष प्रकट

करूँ? किसको दोष दूँ? यह सब मेरा ही दुर्भाग्य है कि मेरी परछाई छूने में भी लोग संकोच करते हैं।

विनय-पत्रिका के इस पद से ध्वनित होता है कि गोस्वामी तुलसीदास को गरीबी के कारण आरम्भिक दिनों में समाज में अछूत की तरह रहना पड़ा था—उनकी छाया छूने में भी लोग संकोच करते थे “मोसों सकुचत सब कुड़ छाहूँ”। यह विडम्बना है कि ऐसे व्यक्ति पर ब्राह्मणवाद के पोषक का आरोप लगाया जाता है।

अगले पद में भी तुलसी का यही दैन्य-भाव दृष्टिगोचर होता है—

कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो?
राम! रावरे बिन भये जन जनमि-जनमि जग,
दुख दसहू दिसि पायो।।१।।

आस-बिबस खास दास हूँ नीच प्रभुनि जनायो।
हा हा करि, दीनता कही, द्वार-द्वार बार-बार,
परी न छार मुँह बायो।।२।।

असन-वसन-बिन, बावरो जहँ तहँ उठि धायो।
महिमा-मान प्रिय प्रान्तें, तजि, खेलि खलनि आये,
खिन-खिन पेट खलायो।।३।।

नाथ! हाथ कछु नाहि लथ्यो, लालच ललचायो।
साँच कहौं, नाच कौन सो, जो न मोहिं
लोभ लघु निरलज नचायो।।४।।

(विनय-पत्रिका, २७६)

मैंने क्या नहीं किया? मैं कहाँ नहीं गया? किस-किसके आगे जाकर मैंने सिर नहीं झुकाया? किन्तु हे राम! जब तक मैं आपका नहीं बना, तब तक मैं इस संसार में जन्म लेकर चारों ओर दुःख-ही-दुःख भोगता रहा।।१।। आपका विशेष दास होकर भी आशा के वश में मैं नीच स्वामियों के आगे हाथ पसारता रहा, बार-बार उनके द्वार पर जाकर अपनी विवशता-भरी दीनता के वचन सुनाता रहा। पर मेरे बाएँ हुए मुँह में (भोजन की बात तो दूर रही) किसी ने उसमें राख तक नहीं डाली।

।।२।। भोजन-वस्त्र के बिना मैं पागल की भाँति जहाँ-तहाँ दौड़ता फिरा। प्राणों से प्रिय आत्म-सम्मान की तिलांजलि देकर मैं दुष्टों के सामने अपना खाली पेट प्रतिपल, दिखाता रहा।।३।। पर, हे नाथ! हाथ कुछ नहीं लगा और मैं केवल लालच में ही पड़कर ललचता रहा। मैं सच कहता हूँ, ऐसा कौन-सा नाच है जो इस तुच्छ और निर्लज्ज लोभ के नहीं नचाया।

(क) शबरी-प्रसंग : तपस्विनी शबरी के आश्रम में प्रभु श्रीराम का जब पदार्पण होता है, तब वह भाव-विह्वल हो जाती है और इसका कितना सुन्दर वर्णन गोस्वामीजी ने रामचरित-मानस में किया है—

सबरी देखि राम गृहँ आए। मुनि के वचन समुझि जियँ भाए।
सरसिज-लोचन बाहु विसाला। जटा झुकट सिर उर बनमाला।।
स्याम-गौर सुन्दर दोड भाई। सबरी परी चरन लपटाई।।
प्रेम-मगन मुख वचन न आवा। पुनि-पुनि पद-सरोज सिर नावा।।
सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुन्दर आसन बैठारे।।
कन्द मूल फल सुस अति, दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए, बारम्बार बखानि।।

(मानस : ३.३४)

शबरी के फलों का जो अद्भुत स्वाद था, वह प्रभु श्रीराम को आजीवन याद रहा।

(ख) निषाद-राज का भरत और वसिष्ठ से मिलन : जब भरतजी को पता चला कि निषाद-राज श्रीराम के सखा हैं और उन्होंने श्रीराम के वन-गमन के अवसर पर आदर-सत्कार किया था, तब भरत रथ से उतरकर निषादराज से अनुरागपूर्वक मिले—

राम सखा पुनि सन्दनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा।।
गाउँ जाति गुह नाउँ युनाई। कीन्ह जोहारु, माथा महि लाई।।
करत दंडवत देखि तेहि, भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन-सन भेंट भइ, प्रेम न हृदय समाइ।।

(मानस : २.१६३)

भेंटत भरत ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहि प्रेम के रीती।।
धन्य धन्य धुनि मंगल मूला। सुर सराहिं तेहि वरिसहिं फूला।।

लोक वेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुड़ लेइय सींचा।।
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता।।
राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हि न पाप-पुंज समुहाहीं।।
एहि तौ राम लाइ उर लीन्हौं। कुल समेत जग पावन कीन्हौं।।
करमनास जल सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहिं धरई।।
उलटा नाम जपत जग जाना। बालमीकि भे ब्रह्म समाना।।
स्वपच सबर खस जनन जडु पावँ कोल किरात।
राम कहत पावन परम होत धुवन विख्यात।।

(मानस : २.१६४)

वसिष्ठ से निषादराज का मिलन इस प्रकार होता है—

राम सखा रिषि बरबस भेंटा।
जनु महि लुठत सनेह समेटा।।
रघुपति-भगति सुमंगल मूला।
नभ सराहि सुर बरसहिं फूला।।
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं।
बड़ वसिष्ठ सम को जग माहीं।।
जेहि लखि लखनउँ ते अधिक, मिले मुदित मुनिगड।
सो सीतापति भजन को, प्रगत प्रताप प्रभाड।।

(ग) जटायु का प्रसंग : सीता माता को अपहरण से मुक्त कराने के लिए गिद्धराज जटायु ने रावण से रण मोल लिया और जब उसके कृपाण के प्रहार से उनके पंख कट गए और वे धराशायी हुए; तब श्रीराम सीतान्वेषण-क्रम में जटायु के पास पहुँचे। श्रीराम के करस्पर्श से जटायु की सारी पीड़ा जाती रही।

कर सरोज सिर परसेउ, कृपासिन्धु रघुवीर।
निरखि राम छविधाम मुख, विगत भई सब पीर।।

(मानस : ३.३०)

भगवान् श्रीराम ने जटायु को जीवित रहने का प्रस्ताव दिया; किन्तु उनका उत्तर था—
जाकर नाम मरत मुख आवा। अथमउ मुकुत हेइ, सति गावा।।
सो मम लोचन गोचर आगे। राखौं देह, नाथ! केहि खौं।।
जल भरि नयन कहहिं रघुराई। तात! करम निज तें गति पाई।।

पर-हित वस जिह केम माहीं। तिह वहाँ जग दूलभ कुछ नाहीं।।
 तु तजि तात! जाहु मम धामा। देउँ काह तुम पून-कामा।।
 अवरल भगति मोंगि बर, गीध गयड हरि-धाम।
 तेहि की क्रिया यथोचित, निज कर कीहीं राम।।

आज रामचरितमानस और तुलसी-साहित्य के आधार पर हजारों प्रवचन-कर्ता अपनी आजीविका चला रहे हैं और धर्मप्रचार कर रहे हैं। अपने प्रत्येक प्रवचन में तुलसी साहित्य का तुलसीदल डालकर ही वे अपने प्रवचन को पूत, पुनीत बनाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास का वास्तविक व कल्पित जीवन-चरित सुनाकर वे श्रोताओं की प्रशंसा प्राप्त करते हैं। किसी भी 'रामायणी' से आप बात करें तो ऐसा लगेगा कि वह समग्र तुलसी-साहित्य तथा चरित का अधिकारी ज्ञाता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि तुलसी पर सैकड़ों पुस्तकों की रचना और हजारों लेख के लेखन और लाखों प्रवचनों के बाद भी तुलसी-चरित के अनेक पक्ष आज भी उलझे हैं। उनको सुलझाने का प्रयास एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय होगा; किन्तु पाठकों की रुचि के लिए कुछ पहलुओं पर विहंगमावलोकन किया जा रहा है—

जन्म— गोस्वामी तुलसीदासजी के जन्म की परम्परागत तिथि संवत् १५५४ की श्रावण शुक्ला सप्तमी है। कुछ विद्वानों ने हाथरसवाले तुलसी साहिब के घट रामायण के आधार पर संवत् १५८६, भाद्र सुदी ११ माना है और कुछेक ने संवत् १६००; किन्तु इनमें से कौन-सी तिथि प्रामाणिक है; यह निरूपण नहीं हो पाया है।

यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने जन्म या अवस्था का उल्लेख नहीं किया है, तदपि उन्होंने अपने कतिपय ग्रन्थों की रचना का काल बताया है। मानस का रचनाकाल संवत् १६३१ की रामनवमी सुविदित है। पार्वती-मंगल की रचना-तिथि उन्होंने दी है—

जय संवत फागुन सुदि पांचइ गुरु दिन।
 अस्विनि बिरचेउँ मंगल सुनि सुख छिन छिन।।

अर्थात् जय नामक संवत्सर की फाल्गुन शुक्ला पंचमी गुरुवार को, अश्विनी नक्षत्र में मैं इस 'पार्वती-मंगल' की रचना कर रहा हूँ जिसे सुनकर क्षण-क्षण सुख प्राप्त होगा।

इस जय संवत् की तिथि के बारे में आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने तुलसी-ग्रन्थावली के द्वितीय खण्ड के पृष्ठ २१ पर लिखा है—“काशी के प्रसिद्ध ज्योतिषी पंडित गणेश दत्त पाठक ने गणना करके बताया है कि 'जय' नाम के जिस संवत्सर की फाल्गुन शुक्ला पंचमी को गुरुवार और अश्विनी नक्षत्र पड़ा था, वह १५८२ में पड़ा था। उस समय गोस्वामीजी की अवस्था २८ वर्ष की थी।” जबकि माता प्रसाद गुप्त ने 'तुलसीदास' ग्रन्थ के पृष्ठ २४६ पर स्वामी कन्नू पिलाई की पुस्तक “इंडियन इफिमिरस” के आधार पर यह विचार व्यक्त किया है—“जय' बार्हस्पत्य वर्षप्रणाली का एक वर्ष है। कवि के जीवनकाल में यह वर्ष एक ही बार, सं० १६४३ में, उपस्थित होता है; अतएव ग्रन्थ की रचना भी इसी वर्ष में हुई माननी चाहिए।”

आज तक तुलसी-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् यह निर्णय न कर पाए कि पार्वती-मंगल की रचना-तिथि संवत् १५८२ है या सं० १६४३। यदि गणेश दत्त पाठक की गणना सही है और रचना काल सं० १५८२ है, तो तुलसी का जन्मवर्ष संवत् १५८६ या १६०० अपने आप गलत सिद्ध होता है। यदि पाठकजी की गणना गलत है और स्वामी कन्नू पिलाई की गणना सही है तो तुलसीदास का जन्म वर्ष सं० १५८६ मान लेना चाहिए।

यद्यपि यह सम्भावना क्षीण है कि १५८२ और १६४३ दोनों वर्षों में जय संवत् की फाल्गुन सुदी पंचमी के दिन गुरुवार और अश्विनी नक्षत्र का योग था; तदपि उस स्थिति में पार्वती-मंगल की रचना का वर्ष १५८२ मानना ही बेहतर होगा; क्योंकि भाषा एवं भाव की दृष्टि से मानस पार्वती-मंगल

की अपेक्षा प्रौढ़तर और परवर्ती रचना है। इसके अतिरिक्त, पार्वती-मंगल का विषय मानस के बालकाण्ड के शिव-पार्वती-परिणय से काफी मिलता है; अतः मानस की रचना के बाद उसी के एक लघु विषय पर स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना का औचित्य प्रतीत नहीं होता। अतः भारत के मूर्द्धन्य कालविद् और ज्योतिषी एक गोष्ठी का आयोजन कर जय संवत् की प्रामाणिक गणना की घोषणा कर दें, ताकि गोस्वामीजी के जन्मकाल का सम्यक् निर्धारण हो सके।

जन्म स्थान— तुलसी के जन्म-स्थान के बारे में भी विद्वानों में मतभेद है। उन्हें राजापुर से सोरों तक अनेक ग्रामों (हाजीपुर, तारी आदि) का मूल निवासी होने के शतक दावे प्रस्तुत किए गए हैं यहाँ उनके झमेले में नहीं जाकर मात्र यही कहना है कि गोस्वामी तुलसीदास भारत की विभूति थे और अपने को भी वे भारतवासी ही मानते थे, जो (पद १३५) विनय-पत्रिका की इस पंक्ति से ध्वनित है—“यह भरत-खंड, समीप, सुरसरि, थल भलो, संगति भली।”

कवितावली (उत्तर ३३) में भी यही भाव है— “भलि भारतभूमि भले कुल जन्म समाज सरीर भलो लहिकै।” उन्हें काशी सबसे अधिक प्रिय नगरी थी। मानस के किष्किन्धा-काण्ड में उन्होंने लिखा है—

मुक्ति जन्म महि जानि, ग्यान-खानि अघ हानि कर।

जह बस संभु-भवानि, सो कासी सेइय कस न ॥

अयोध्या और चित्रकूट उनके दो अन्य प्रिय तीर्थ थे। सूकर-क्षेत्र में उन्होंने बालपन में अपने गुरु के मुख से रामकथा सुनी थी, जिसे बालकालीन अवोधता के कारण वे पूर्णतः समझ नहीं पाए थे।

माता-पिता— माता के रूप में हुलसी का नाम बहुत प्रचलित है। इस सम्बन्ध में इस जनश्रुति को आधार बनाया जाता है, जिसके अनुसार

तुलसीदास और रहीम के बीच पत्राचार का यह दोहा है—

सुरतिय नरतिय नागतिय, सब चाहत अस होइ।

गोद लिए हुलसी फिँ, तुलसी सो सुत होइ॥

इस दोहे की पुष्टि में मानस की यह चौपाई प्रस्तुत की जाती है—

रामहिं प्रिय पावनि तुलसी सी।

तुलसीदास हित हिय हुलसी सी॥

इस चौपाई की समीक्षा करते हुए हरिकृष्ण अवस्थी ने ‘तुलसीदासः परिवेश, प्रेरणा, प्रतिफलन’ ग्रन्थ में लिखा है— “अब इन पंक्तियों पर तनिक ध्यान देना चाहिए। प्रथम पंक्ति में राम और तुलसी (वृन्दा) का जो सम्बन्ध है, उपमा के सम्यक् निर्वाह के लिए वही सम्बन्ध तुलसी और हुलसी में भी होना चाहिए। ‘हुलसी’ यदि संज्ञा है तो तुलसी से उसका सम्बन्ध वही होना चाहिए जो रामप्रिया वृन्दा का राम (शालग्रम) से है। तब इस रूप में हुलसी माता कैसे होगी? इसके अतिरिक्त दूसरी पंक्ति में ‘हिय’ के साथ होने के कारण ‘हुलसी शब्द का अर्थ हार्दिक उल्लास ही अधिक समीचीन होगा। क्योंकि एक तो यह शब्द यहाँ पर संज्ञा न होकर क्रिया है और दूसरे तुलसी ने मानस अथवा मानसेतर ग्रन्थों में जहाँ कहीं भी इस शब्द का प्रयोग किया है, वहाँ यह हार्दिक उल्लास का ही पर्याय है।”

गोस्वामीजी ने अपने ग्रन्थों में हुलसी का प्रयोग बहुत बार किया है—

(क) सभु प्रसाद मुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी।

(मानस : १.३५.१)

(ख) महिमा तसु कहै किमि तुलसी। भगति सुभाय मुमति हिय हुलसी॥

(ग) जुग-जुग कोटि-कोटि करतब करनी न कहु बरनी नई।

राम भजन महिमा हुलसी हिय, तुलसी हू की बनि गई॥

(गीतावली, सुन्दर, ३७)

(घ) हुलसि-हुलसि हिये तुलसिहुँ गाये हैं।

(गीतावली, बालकाण्ड, ७४)

इन सभी प्रसंगों में हुलसी शब्द का प्रयोग हुलसने यानी उल्लास प्रकट करने के अर्थ में किया है। इसी प्रकार रहीम के दोहे में भी अनेक विद्वानों ने 'हुलसी' को संज्ञा न मानकर 'फिरै' का क्रियाविशेषण माना है और संज्ञा के रूप में "सुरतिय, नरतिय, नागतिय" को माना है, जो 'फिरै' बहुवचन क्रियापद के कारण अधिक समीचीन बैठता है। इस प्रकार, इन 'प्रमाणों' में 'हुलसी' उनकी माता का नाम नहीं है।

आत्माराम दूबे पिता होने के प्रमाण में यह दोहा प्रस्तुत किया जाता है—

दूबे आत्माराम है, पिता नाम जग जान।

माता हुलसी कहत सब, तुलसी कै सुन कान।।

पर इस दोहे का कोई स्रोत ही आज तक उपलब्ध नहीं हुआ। यह तुलसीकृत तो हो ही नहीं सकता; क्योंकि इतने उच्च स्वर से घोषणा करना कि लोग कान खोलकर सुन लें, महाकवि के सौम्य स्वभाव के विपरीत है।

गुरु— बहुत से विद्वान् नरहरिदास को गोस्वामीजी का गुरु मानते हैं और इसके प्रमाण में निम्नलिखित सोरठा प्रस्तुत करते हैं—

बन्दौं गुरु पद कंज, कृमा सिन्धु नर रूप हरि।

महामोह तम पुंज, जासु बचन रविकर निकर।।

इसके आधार पर ये विद्वान् नरहरिदास का परिचय प्राप्त करने के लिए रामानन्दाचार्य-परम्परा की अनेक गुरु-शिष्य-परम्पराओं को प्रस्तुत कर तर्क का वितान प्रस्तुत करते हैं। किन्तु यहाँ नर रूप हरि से नरहरि का अर्थ नहीं होकर नर-रूप में हरि यानी विष्णु का अभिप्राय है। प्राचीन पाठ के अनुसार हरि के स्थान पर हर है, जिससे अर्थ होगा नर-रूप में हर या शिव। "नर रूप हर" की तुक 'रवि कर निकर' से भी बैठती है। यद्यपि सोरठे में द्वितीय पद की तुक आवश्यक नहीं होती, तदपि मानस के मंगलाचरण के प्रारम्भिक पाँच सोरठों के द्वितीय

पद का अन्त तुक से ही सम्पन्न है; अतः यहाँ 'हर' का पाठ अधिक सम्यक् है। इसके अतिरिक्त, इसकी पुष्टि मानस के इस दोहे से भी परोक्ष रूप में होती है—

अस निज हृदय विचारि, तजि संसय भजु राम पद।

सुनु गिरिराजकुमारि, भ्रमतम रविकर बचन सम।।

(मानस : १.११५)

इसपर हरिकृष्ण अवस्थीजी लिखते हैं—
... "इस प्रकार, जिन गुरु के वचनों को गोस्वामीजी 'महामोह तम पुंज' निवारण के लिए 'रविकर निकर' कहते हैं, उसी 'भ्रमतम' के लिए 'रविकर' रूप में अपने वचनों को स्वयं शिवजी उद्धोषित करते हैं।"

गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने ग्रन्थों में अनेक बार भगवान् शिव को अपना गुरु माना है—
गुरु पितु मातु महेश भवानी। प्रनवौं दीनबन्धु दिनदानी।।

(मानस : १.१४.२)

मेरे माय बाप गुरु संकर भवानिए

(कवितावली, उत्तर, १६८)

गुरु गौरीस, साईं सीतापति, हित हनुमानहिं जाके

(गीतावली, सुन्दर, २८)

**सीतापति साहेब, सहाय हनुमान नित हित,
उपदेश को महेश भानौ गुरु कै।**

(बाहुक, ४३)

इस प्रकार, तुलसीदासजी ने स्पष्ट संकेत दिया है कि वे भगवान् शिव को अपना गुरु मानते थे। यदि निम्नलिखित दो उल्लेख तुलसी-साहित्य में न होते, तो स्पष्टतः निष्कर्ष निकाला जाता कि भगवान् शिव ही तुलसी के गुरु थे—

(क) मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।

समुझि नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत।।

(मानस : १.३०)

तदपि कही गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति-अमुगणा।।

भाषाबद्ध करवि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई।।

(मानस : १.३०.१)

(ख) गुरु कह्यो राम भजन नीको, मोहि लगत राज डगरो सो।

(विनयपत्रिका : १७३)

इन दोनों पदों से यह स्पष्ट है कि नर रूप में कोई व्यक्ति था, जो सूकर खेत में प्रवचन किया करता था और उस प्रवचन को तुलसी ने बचपन में बार-बार सुना था और उसी आधार पर उन्होंने मानस की रचना की। मानस की रचना का श्रेय गोस्वामीजी ने शिवकृपा और शम्भु-प्रसाद को दिया है, जैसा कि “**भनिति मोरी सिव कृपा बिभाती**” और “**सम्भु प्रसाद सुमति हिय हुलसी**” से दिया है।

अब इन दोनों का सामंजस्य कैसे बैठाया जाए। मेरी दृष्टि में गोस्वामी तुलसीदासजी के गुरु के रूप में वे अज्ञातनामा प्रवचनकर्ता थे, जिनकी कथा उन्होंने सूकर क्षेत्र में बालपन में अनेक बार सुनी थी; किन्तु बचपन में पूरी तरह नहीं समझ पाए थे। प्रौढ़ होने पर जब उन्हें उस रामकथा का बोध शम्भु-प्रसाद से हुआ, तब तुलसी ने उसी अज्ञातनामा महात्मा को अपना गुरु माना और उसे शंकर-स्वरूप ही समझा। मंगलाचरण के इस श्लोक से यह स्पष्टतर होता है—

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।

यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते।।३।।

अर्थात् मैं सभी ज्ञान से पूर्ण और सदा विद्यमान रहनेवाले शंकर-रूपी गुरु की वन्दना करता हूँ, जिनके आश्रय से टेढ़ा चन्द्रमा भी सर्वत्र वन्दित होता है।

यही विचार हरिकृष्ण अवस्थी का है। उन्होंने ‘तुलसी: व्यक्तित्व और विचार’ में लिखा है—“बाल्यकाल में भौतिक विपत्तियों में आवृद्ध मग्न होने पर तुलसीदासजी को रामशरण में जाने की प्रेरणा सन्तों से प्राप्त हुई। सम्भवतः उसी अपरिपक्व अवस्था में विपन्न परिस्थितियों के थपेड़ों से व्याकुल और किंकर्तव्यविमूढ़ तुलसीदास ने साधुओं के सत्संग में रामकथा सुनी। यह रामकथा

सुनानेवाले कश्चित् सन्त उनके लिए साक्षात्कारी कल्याणकारी आशुतोष शिव हो गए और इसी से रामकथा में अभिरुचि उत्पन्न करानेवाले अपने गुरु को उन्होंने साक्षात् शंकर-रूप में स्थान-स्थान पर स्मरण किया।”

तुलसी के गुरु का नाम जो भी रहा हो, पर वे नरहरिदास नहीं थे; क्योंकि मानस के उपर्युक्त सोरठे में प्रयुक्त नर रूप हरि को यदि हम नरहरिदास मान लें तो मानस के सुन्दरकाण्ड में भी “**मसक समान रूप कपि धरी। लंकहिं चलयो सुमिरि नरहरी।।**” में भी क्या हनुमान्जी ने नरहरिदासजी का स्मरण कर लंका के लिए प्रस्थान किया? यहाँ नरहरि नृसिंहावतार का पर्याय है; जो ‘**नरहरि किये प्रगट प्रहलादा**’ में भी स्पष्ट है। अतः सोरठे का ‘नर रूप हरि’ वास्तव में प्राचीन पाठ के आधार पर ‘नर रूप हर’ है और उसका अर्थ नररूपी हरि या हर है। यदि हरि भी पाठ माना जाए तो यह जाबालि-संहिता के इस श्लोक का छायानुवाद मात्र है—

वन्दे गुरुपदाब्जं यो नररूपः स्वयं हरिः।

यद्वाक्यसूर्योदयतस्तमो नश्यति साम्प्रतम्।।

अवस्थीजी का इसपर व्यंग्य बहुत सटीक है— “इसके बाद तो मर्हपि जाबालि के गुरु रूप में भी कोई ‘नरहरि’ जब तक ढूँढ न निकाले जाएँ तब तक गोस्वामीजी के विषय में ‘नरहरि’ पर दुराग्रह नहीं तो पूर्वग्रह को कुछ समय के लिए विश्राम लेना ही चाहिए।”

विवाह— गोस्वामी तुलसीदासजी के विवाह, पत्नी में अधिक आसक्ति और पत्नी की फटकार के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ और दोहे प्रसिद्ध हैं। किन्तु मैं गोस्वामीजी को बचपन से ही बैरागी सन्त मानता हूँ; जिन्होंने कभी विवाह नहीं किया। उनके समस्त साहित्य में ऐसा कोई भी अन्तःसाक्ष्य नहीं है, जिसके आधार पर उनके विवाह की पुष्टि होती हो। गोस्वामीजी की जिन पंक्तियों को उद्धृत कर

उनके दाम्पत्य सूत्र में आबद्ध होने की बात कही जाती है, उनकी समीक्षा यहाँ की जा रही है।

तुलसी के विवाहित जीवन के बारे में जो सबसे बड़ा अन्तःसाक्ष्य बताया जाता है, वह विनय-पत्रिका का यह अंश है—

लड़िकाई बीती अचेत चित, चंचलता चौगुने चाय।

जोबन-जर जुवती कुयथ्य करि, भयो त्रिदोष भारि मदन बाय।

सचमुच इसमें यौवन के ज्वर में युवती का कुपथ्य करने की बात है और यदि यह तुलसी के जीवन के सन्दर्भ में है तो इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है? किन्तु यदि हम तुलसी-साहित्य के विद्वानों के सुझाव को स्वीकार कर लें तो हमें यह भी मानना होगा कि उन्होंने मध्य वयस् यानी प्रौढ़वस्था में धनोपार्जन में बिताई और वे कृषिकार्य तथा व्यापार में भी व्यस्त रहे। फिर अन्वेषण करना होगा कि तुलसीजी की खेती कहाँ थी और दुकान काशी में किस गली में थी पुनः उन्होंने परचूरन की दुकान खोली थी या चूड़ी की; क्योंकि उपर्युक्त पंक्तियों के ठीक बाद की पंक्तियाँ हैं—

मध्य बयस धन हेतु गँवाई, कृषी बनिज नाना उपाय।

इस पूरे प्रसंग को समझने के लिए विनय-पत्रिका का पूरा पद (८३ वाँ) यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

कष्टु ह्वै न आई गयो जनम जाय।

अति तुलभ त्तु पाहू कष्ट तजि भजेन राम मन-वत्स-कय।।१।।

लरिकाई बीती अचेत चित, चंचलता चौगुने चाय।

जोबन-जर जुवती कुयथ्य करि, भयो त्रिदोष भारि मदन बाय।।२।।

मध्य बयस धन हेतु गँवाई, कृषी बनिज नाना उपाय।

राम-विमुख सुख लहो न सपेहुँ, निस्वासर तयो तिहूँ ताय।।३।।

सेये नहिं सीतापति-सेवक, साधु सुमति भलि भगति भाय।

सुनेन पुनकि तु, कहे न मुदित मन, किये जे चरित खुबं सराय।।४।।

अब सोचत मति किनु सुअंम ज्यो, बिकल अंग दले जरा धाय।

सिर धुनि-धुनि पछितात भीजि कर, केउ न मीत हित तुह दाय।।५।।

जिन्ह लगि निज परलोक बिगारयौ, ते लजात ठाढ़े ठाय।

तुलसी अजहुँ सुमिरि रघुमार्थि, तख्यौ गँवैद जके एक नय।।६।।

इसके विश्लेषण से यह ज्ञात होगा कि यह पद सामान्य जीवन के चरित के बारे में उसी प्रकार रचित है, जिस प्रकार आदि शंकराचार्य का यह प्रसिद्ध श्लोक—

बालस्तावत् क्रोडासक्तः तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।

वृद्धस्तावच्चिन्तामनः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लभः।।

विनय के उपर्युक्त पद को तुलसी का जीवन-चरित मानने पर तो बुढ़ापे की उम्र तक तुलसी ने रघुवंशराय (भगवान् श्रीराम) के चरित का भी कभी बखान नहीं किया। तब तो रामचरितमानस और अन्य तुलसी-ग्रन्थों का रचयिता भी हमें दूँटना पड़ेगा। प्रसंग से हटकर किसी उक्ति से कितना अनर्थ उत्पन्न हो सकता है, वह तुलसी-साहित्य के विद्वानों ने इस पद की उपर्युक्त पंक्ति की कुत्सित व्याख्या करके दिखाई है। अतः यह स्पष्ट है कि विनय के इस पद का तुलसी के विवाह से कुछ भी लेना देना नहीं है।

तुलसी-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् डा० माताप्रसाद गुप्त ने अपनी पुस्तक 'तुलसी' में उपर्युक्त पद के अतिरिक्त दोहावली का निम्नलिखित दोहा उनके विवाह एवं पत्नी होने का प्रमाण माना है—

खरिया खरी कपूर सब उचित न पिय तिय त्याग।

कै खरिया मोहिं मेलि कै बिमल बिबेक विराग।।

(दोहावली : २५५)

इस दोहे का अर्थ क्लिष्ट है; अतः पहले दोहे का अर्थ दिया जाता है और पुनः इसका प्रसंग।

अर्थ—प्रिय! जैसे आप खरिया (कन्धे पर लटकाए जानेवाले दुर्मुँहे झोले) में खड़िया और कपूर (टीका लगाने के लिए खड़िया और आरती करने कि लिए कपूर का व्यवहार सेवा है) लेकर चलते हैं यानी उन्हें छोड़ते नहीं हैं; वैसे ही पत्नी का त्याग नहीं करना चाहिए। इसलिए या तो मुझे भी खरिया में डाल लीजिए यानी साथ ले लीजिए या निर्मल विवेक और वैराग्य दीजिए।

इस दोहे के आधार पर किंवदन्ती चली कि वृद्ध हो जाने पर जब तुलसीदास एक बार अपने घर गए, तब उनकी परित्यक्ता पत्नी ने यह दोहा कहा। इस जनश्रुति में विश्वास करनेवाले यह क्यों भूल जाते हैं कि गोस्वामीजी को शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान था और शास्त्रवचन के अनुसार विरक्त सन्त को अपने पूर्व आश्रम का स्मरण करना भी महापातक माना गया है; अतः पूर्व आश्रम पर पहुँचना तो अधम से भी अधम पातक होता। इसलिए शास्त्रमर्मज्ञ तुलसी का अपने पत्नी के पास जाने की बात युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होती है। इसका मर्म ठीक से समझने के लिए इसके ऊपर के दो दोहों का अवलोकन करें—

परमार्थ पहिचानि मति, लसति विषय लपटानि।

निकसी चिता ते अध जरित, मानहुँ सती परानि॥२५३॥

सीस उधारन किन कह्यो, बरजिहहे प्रिय लोग।

घर ही सती कहावती, जरती नाह वियोग॥२५४॥

२५३वें दोहे में गोस्वामीजी कहते हैं कि जो व्यक्ति अपनी मति से परमार्थ को जानकर विषयों में आसक्त (लिपटा) रहता है; उसकी स्थिति ऐसी है, जैसी उस स्त्री की जो सती होने के लिए चिता पर चढ़ गई; किन्तु अधजली स्थिति में चिता से उतरकर भाग निकले।

२५४वें दोहे में तुलसी उलाहना देते हैं कि जब तुझे लोग सती होने से मना कर रहे थे, तब तू चिता पर सिर उधारने यानी बेपर्दा (निलज्ज) होकर मरने के लिए क्यों उतावली हो रही थी? इससे तो बेहतर था कि नाथ के वियोग की अग्नि में घर में ही जलती रहती और सती की पदवी पाती।

इन दो दोहों में गोस्वामी तुलसीदास ने अन्योक्ति के माध्यम से उन बुद्धिमान् पुरुषों पर व्यंग्य किया है जिन्हें परमार्थ तत्त्व का ज्ञान होने पर भी विषयासक्ति से मुक्ति नहीं हुई। ऐसे व्यक्तियों

की तुलना अर्धविदग्धावस्था में पलायन करनेवाली सतियों से की गई है, जो न तो सती हो पाती हैं और न स्वस्थ ही रह पाती हैं; जिन्हें धर्म या कीर्ति नहीं मिल पाती; प्रत्युत सर्वत्र उपहास की पात्रता झेलनी पड़ती है। अतः तुलसीदास दूसरे विरक्तों को चेतावनी दे रहे हैं कि वे विषयासक्ति में न पड़ें। फिर कैसे, वे दूसरे दोहे में ही पत्नी के पास पहुँच पाते हैं कि उस दोहे को उनकी पत्नी की उक्ति माना जाता है।

जैसे उपर्युक्त दो दोहों में अन्योक्ति के माध्यम से कवि ने अपना सन्देश, उपदेश दिया है, वैसे ही इस २५५वें दोहे में उन्होंने अन्योक्ति के माध्यम से उन विरक्त साधुओं को परामर्श दिया है कि तुमने पत्नी का त्याग तो कर दिया, किन्तु 'खरी' और 'कपूर' को अभी नहीं छोड़ा है; इसलिए तेरा पत्नी-परित्याग उचित नहीं है। तब उचित क्या है? पत्नी कहती है कि या तो खरिया यानी झोली में मोहि को (मुझको) ले लो या पूर्ण वैराग्य, विमल वैराग्य धारण करो।

तुलसीदास का यह व्यंग्य उन साधुओं पर है, जो पत्नी का परित्याग करके भी राजसी ठाठ-बाट का त्याग नहीं करते। आज के सन्दर्भ में यह और भी सटीक है। बहुत से वैरागियों ने तो पत्नी का परित्याग कर संन्यास धारण कर लिया है; किन्तु संसार की सुख-सुविधा, विलासिता के पंक में आकण्ठ मग्न रहते हैं। ऐसे विलासी वैरागियों से या तो पत्नी के सान्निध्य में रहनेवाले गृहस्थ बेहतर हैं या पूर्णतः निर्मल वैराग्य में विचरण करनेवाले महात्मा।

गोस्वामीजी के उपर्युक्त दोहे की अन्योक्ति का यही अभिप्राय है; किन्तु विद्वानों ने इसका मर्म न समझकर क्या-क्या अर्थ लगाकर अनर्थ कर दिया है। गोस्वामीजी के विवाह के प्रमाण में 'हनुमान-बाहुक' का यह पद उद्धृत किया जाता है—

बालपने सूधे मन राम सनमुख भयो,
रामनाम लेत माँगि खात टूकटाक हौं।
पर्यौ लोक रीति में, पुनीत प्रीति राम राय,
मोह बस बैठो तोरि तरकि तराक हौं।।
खोटे खोटे आचरण आचरत अपनायो,
अंजनीकुमार सोध्यो राम पानि पाक हौं।
तुलसी गोसाईं भयो, भेड़े दिन भूलि गयो,
ताको फल पावत निदान परिपाक हौं।।४०।।

इस पद में गोस्वामीजी स्पष्ट कहते हैं कि मैं बालपन में ही सरल मन से राम के सम्मुख हुआ; और राम-नाम लेकर मधुकरी वृत्ति से पेट पालता रहा। उसके बाद, मोहवश मैं राजा राम की पुनीत प्रीति को तड़फड़ तोड़ बैठा और लोकरीति में पड़ गया और बहुत से खोटे आचरणों को अपनाया। फिर अंजनीकुमार हनुमान् ने खोजकर अपनाया और श्रीराम के करकमलों में रखकर मुझे ऐसा शुद्ध करवाया कि तुलसी गोसाईं (किसी मठ का स्वामी) बन बैठा और अपने पुराने दुर्दिन भूल गया, जिसका फल वह इस बाहुपीड़ा और शरीरपीड़ा के रूप में भोग रहा है।

अब इस पद में 'पर्यौ लोक रीति में' का अर्थ कुछ विद्वान् विवाह करना बताते हैं। यह गनीमत है कि वे यहीं रुक जाते हैं; अन्यथा 'खोटे खोटे आचरण आचरत' का अर्थ कहीं परस्त्रीगमन या चरित्रहीनता भी नहीं कर बैठें। ये विद्वान् बैरागी की भाषा नहीं समझते। जिसका मन राम में रम गया है, उसे यदि कभी स्वप्न में भी कभी किसी ऐहिक वृत्ति का स्पन्दन बिजली की भाँति भी क्षणिक होता है तो वह पश्चात्ताप के सागर में डूब जाता है और उसकी पश्चात्ताप-परक वाणी को वैराग्य-सखलन नहीं समझना चाहिए। तुलसी के पदों में जो बारंबार पश्चात्ताप-सन्तप्त उक्तियाँ मिलती हैं, उनका यही अभिप्राय है।

इस पद से यह ध्वनित होता है कि तुलसीदास किसी मठ के महन्त कभी हुए थे और वाल्मीकि-रामायण के अध्येता होने के कारण कार्यार्थी स्वान की कथा में महन्त की क्या दुर्गति होती है, यह जानकर उनकी यह पश्चात्ताप-परक वाणी प्रतीत होती है।

इस पद की प्रथम पंक्ति से यह भी स्पष्ट होता है कि वे बालपन में ही सरल मन से राम के सम्मुख हो गए, उनके दास बन गए; वैरागी हो गए और एक बार वैरागी होने के बाद विवाह करनेवाला 'आरूढ़ पतित' माना जाता है और उसके लिए प्राणत्याग के अलावे कोई अन्य प्रायश्चित्त नहीं है।

सन्त ज्ञानेश्वर के पिता विट्ठल पन्त के साथ ऐसा हुआ था कि उन्होंने पत्नी की अनुमति के बिना संन्यास ले लिया था और जब उनके गुरु को इसका पता चला तब उन्होंने विट्ठल पन्त को गार्हस्थ्य-जीवन में वापस भेज दिया था; जिसपर पण्डितों ने उन्हें 'आरूढ़ पतित' घोषित कर समाज से बहिष्कृत कर दिया और अन्त में प्रायश्चित्त के रूप में उन्हें प्रयाग में सपत्नीक संगम में डूब कर प्राण त्यागने पड़े थे।

तुलसी का समग्र जीवन-चरित देखने से यह स्पष्ट होता है कि वचपन में ही उनके माता-पिता ने उन्हें त्याग दिया था और वे सन्तों की संगति में मधुकरी वृत्ति से जीविका-यापन करते थे तथा राम-कथा सुनते थे। उस वैराग्यमय जीवन से गार्हस्थ्य की ओर आने का उनके समग्र साहित्य में कहीं भी प्रमाण नहीं मिलता। यद्यपि उन्होंने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी है, तदपि उनके कुछ ग्रन्थों से विशेष कर विनय-पत्रिका और कवितावली से कवि के अतीत पर कुछ-कुछ प्रकाश पड़ता है और यदि वे अपनी पत्नी की फटकार से वैरागी हुए होते तो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से पत्नी के उपकार के प्रति आभार के दो-चार शब्द अवश्य मिलते। इसके विपरीत,

तुलसी-साहित्य से ऐसा संकेत मिलता है कि उनके कोई पत्नी नहीं थी और नहीं कोई परिवार था। विनय-पत्रिका के २५६वें पद में वे लिखते हैं—

(क) **सखा न, सुसेवक न, सुतिय न, प्रभु
आप माय-बाप तुही साँचो तुलसी कहत।
मेरी तौ शौरी है, सुधरैगी बिगरियो, बलि,
राम! रावरी सौं, रही रावरी चहत।।**

इस पद में उन्होंने सुतिय (सुन्दर स्त्री) न होने की बात कही है। यदि पत्नी उपदेशक रहती तो ऐसा वे हरगिज नहीं लिखते।

(ख) कवितावली में उन्होंने उद्घोष किया—
**काहू की बेटी से बेटा न ब्याहव, काहू की
जाति बिगार न सोऊं।**

(ग) विनय-पत्रिका (७६वें पद में) उन्होंने लिखा है—

ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।।

कुछ लोगों ने गोस्वामीजी की इस वाणी 'हम तो चाखा प्रेम-रस पतनी के उपदेश' के आधार पर गोस्वामीजी के विवाह और पत्नी के उपदेश से वैराग्य का प्रमाण देते हैं। बहुत अन्वेषण के बाद भी यह वाक्य अभी तुलसीदास के प्रामाणिक ग्रन्थ में नहीं मिल पाया है; किन्तु यदि यह होता भी तो इससे पत्नी के उपदेश के फलस्वरूप वैराग्य नहीं, प्रेमासक्ति सिद्ध होती है।

मैं अयोध्या के सन्तों के इस सामान्य विश्वास का पोषक हूँ, जिसके अनुसार गोस्वामी तुलसीदास बचपन से वैरागी (राम-सम्मुख) थे और उन्होंने आजीवन कभी विवाह किया नहीं। अयोध्या के गोलाघाट पर स्थित सद्गुरु कुटी के साकेतवासी सन्त श्रीकान्तशरणजी ने सन् १६६६ में प्रकाशित 'श्रीतुलसी चरित विमर्श' पुस्तिका में गोस्वामी तुलसीदास को आजीवन ब्रह्मचारी और वैरागी साधु माना है। गोस्वामीजी के जीवन-चरित एवं साहित्य के विश्लेषण से उक्त मत की पुष्टि होती है।

गोस्वामी तुलसीदास विरक्त सन्त थे। वे 'श्रुति-सम्मत हरिभक्ति-पथ' के अनुगामी थे; उन्हें इसकी चिन्ता नहीं थी कि संसार उनके बारे में क्या सोचता है। उन्होंने कवितावली में स्पष्ट लिखा है—

**कोऊ कहै करत कुसाज, दगाबाज बड़ो,
कोऊ कहै राम को गुलाम खरो खूब है।
साधु जाँनै महासाधु, खल जाँनै महाखल,
बनी झूठी-साँची कोटि उठत हबूब है।
चहत न काहू सो न कहत काहू की कछू,
सबकी सहत उर अन्तर न ऊब है।
तुलसी को भलो पोच हाथ खुमाथ ही के,**

राम की भक्ति-भूमि मेरी मति दूब है।
राम की भक्ति-भूमि में तुलसी की मति-रूपी
दूर्वा इस तरह विकसित हुई कि अतीत का निकृष्ट
पौधा भाँग अब तुलसीदल-जैसा पूज्य हो गया—

**नाम राम को कल्पतरु, कलि कल्याण-निवास।
जो सुमिरत भयो भाँग ते, तुलसी तुलसीदास।।२६।।**
(मानस : १.२६)

दोहावली में वे लिखते हैं—

**घर-घर माँगें टूक पुनि भूपति पूजे पाँय।
जो तुलसी तब राम बिनु ते अब राम सहाय।।**
(दोहावली : १०६)

'कवितावली' की इन पंक्तियों से पता चलता है कि उनके जीवनकाल में ही लोग उन्हें महर्षि वाल्मीकि-जैसा महामुनि मानने लगे थे—

**राम-नाम को प्रभाउ, पाउ महिमा प्रताप,
तुलसी सो जग मानियत महामुनी-सो।
अति ही अभागो अनुरागत न, राम पद,
मूढ़! एतो बड़ो अचरज देखि सुनी सो।।**

(कविता० उत्तर, ७२)

कहते हैं कि ऐसे निःस्पृह सन्त का चरित सुनकर सम्राट् अकबर ने उनका सम्मान करना चाहा था, किन्तु उन्होंने सम्राट् के दूत को इस सन्देश के साथ लौटा दिया—

हैं चाकर रघुवीर के, पटब लिखौ दरबार।
तुलसी अब का होहिं गै, नर के मनसबदार।।
रामनाम के इस अमर गायक का शारीरिक
अवसान संवत् १६८० की श्रावण कृष्ण तृतीया को
हुआ। 'मूल गोसाईं चरित' में एतद्विषयक यह दोहा
मिलता है—

संबत सोरह सै असी असी गंग के तीर।

सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी तजे शरीर।।

यद्यपि इस तिथि को शायद शनिवार नहीं
था, तदपि गोस्वामी तुलसीदास के अनन्य मित्र
भद्रेनी के राजा टोडर के वंशजों द्वारा महाकवि की
स्मृति में इसी दिन सीधा बाँटने के कारण श्रावण
कृष्ण तृतीया को ही उनका निधन माना जाने लगा
है। इस तिथि की पुष्टि में एक और सशक्त प्रमाण
मिला है। भागवत की श्रीधरी टीका पर चिन्तामणि
भट्ट द्वारा सन् १६७६ (ई० याथक में) रचित
भावार्थ दीपिका की एक प्रति नागरी प्रचारिणी
सभा, काशी के ग्रन्थागार में है, जिसके सप्तम
स्कन्ध की पुष्पिकावाले पृष्ठ के पीछे चिन्तामणि के
ही हाथ से लिखा हुआ यह श्लोक मिलता है—

आकाशाँ हिँ-रसँ-क्षपाकरँ मिते संवत्सरे श्रावणे

प्रातर्वासव-भूषिते सित-दिने कृष्णे तृतीया-तिथौ।

काश्यां देवनदीजलेऽतिविमले लीलाशरीरं मुदा

त्यक्त्वा रामहरं जगाम, तुलसीदासः कलौ दुर्लभम्।।

इस श्लोक के अनुसार गोस्वामीजी का निधन
संवत् १६८० की श्रावण कृष्ण तृतीया को हुआ।
जनश्रुति के अनुसार अवसान के पूर्व उनकी यह
वाणी थी—

रामनाम जस बरनि कै, भयो चहत अब सौन।

तुलसी के मुख दीजिए, अवहीं तुलसी सौन।।

तुलसी के प्रति सैकड़ों कवियों ने अपनी
श्रद्धांजलियाँ अर्पित की हैं। उनमें से कुछेक यहाँ
उद्धृत हैं—

(क) प्रभु की कहानी ते गोसाईं की मधुर बानी
मुक्त सुखदानी 'रसखान' मनभावनी।
खांड की खिजावनी-सी, कंद की कुल्लवनी-सी
सिता को सतावनी-सी सुधा सकुचावनी।

—रसखान

(ख) वेद मत सोधि सोधि के पुरान सबै
संत और असंतन को भेद को बतावतो।
कपटी कुन्नाही कूर कलि के कुचाली जीव
कौन राम नामहू की चरचा चलावतो।।
'बेनी' कवि कहै मानों मानों हों प्रतीत यह
पाहन हिये में कौन प्रेम उपजावतो।
भारी भवसागर उतारतो कवन पार
जो पे यह रामायन तुलसी न गावतो।।

—कवि बेनी

(ग) पैठ संस्कृत-सिन्धु में पाये जहाँ जो रत्न।
प्रस्थित करने में उन्हें करके अलौकिक कर्म।।
हार जो इस देश को तुमने दिया उपाहर।
कौन कर सकता है उसके मूल्य का निर्धार?

—राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त

(घ) क्या राजभवन क्या रंकद्वार, सब ओर समदूत तुम समान,
क्या सानी गृह क्या विसानी गृह, युगवाणी के तुम बने गान।
क्या यती व्रती, क्या धूही रती, करते सबको मति मति प्रदान,
नन्दित स्वदेश, वन्दित विदेश, हे तुलसी तुम गुण-गुण महान।

—पं सोहनलाल द्विवेदी

(ङ) राम-चरित मानस विमल संतन जीवन प्रान।
हिन्दुवान को वेद सम, जमनहिं प्रगट कुरान।।

—अब्दुल रहीम खानखाना।



ज्ञानगंज : गुप्त योगशिक्षा-केन्द्र

□ डा० श्रीरंजन सूरिदेव

तन्त्रमार्ग में 'ज्ञानगंज' की विशिष्ट महिमा है। इसके सन्दर्भ में तन्त्र में अभिरुचि रखनेवाले पाठकों को सहज ही जिज्ञासा रहती है। उसी जिज्ञासा की पूर्ति के क्रम में प्रस्तुत इस आलेख का कथ्य महान् तन्त्राचार्य महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज द्वारा उपन्यस्त ज्ञानगंज की विवेचना पर आधारित है। विशेष ज्ञान के लिए कविराजजी की 'भारतीय संस्कृति और साधना', 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि' आदि महनीय ग्रन्थों का अध्ययन अपेक्षित है।

ज्ञानगंज विशिष्ट सिद्ध योगाश्रम है। इसे सिद्ध योगियों का विश्वविद्यालय भी कहा जाता है। यह स्थान स्थूल सांसारिक दृष्टि से हिमालय की उत्तर भूमि में अवस्थित तिब्बत (सं० त्रिविष्टप=स्वर्ग) में माना जाता है। परन्तु यह स्थान सिद्धपीठ होने के कारण लोकदृष्टि के लिए दृश्य नहीं है। इसलिए भौगोलिक दृष्टि से इस स्थान के विषय में खोज-ढूँढ़ करने का प्रयत्न व्यर्थ है। इस प्रकार के परिश्रम से कोई निर्णयात्मक तथ्य हाथ नहीं आएगा।

ज्ञानगंज सिद्धस्थान है। जिस प्रकार सिद्ध देह स्थूल तथा सूक्ष्म देहों के धर्म से विशिष्ट होती है, वैसे ही सिद्ध स्थान भी होता है, अर्थात् यह स्थूल होते हुए भी सूक्ष्म-जैसा और सूक्ष्म होते हुए भी स्थूल-जैसा लगता है। सिद्धभूमि के अधिष्ठाता, यानी इस योग-विश्वविद्यालय के कुलपति की अनुमति के बिना न तो यह स्थान दिखाई पड़ता है, न ही इसमें प्रवेश ही हो सकता है।

पुण्यश्लोक कविराजजी ने लिखा है (तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि : पृ० २३२) कि ज्ञानगंज

का आन्तरिक विवरण देना अनुचित तथा अप्रासंगिक है। वस्तुतः, यह सर्वथा गुप्त योगाश्रम है। किन्तु उन्होंने यह भी लिखा है कि अलौकिक होने पर भी ज्ञानगंज कर्मभूमि ही है, स्वर्ग की तरह केवल भोगभूमि नहीं है।

तन्त्रलोक की यह अवधारणा है कि ज्ञानगंज-जैसी योगभूमि भारतवर्ष के अनेक स्थानों में विद्यमान है तथा भारतवर्ष के बाहर भी कहीं-कहीं है। पुण्यश्लोक कविराजजी के गुरुदेव महायोगी विशुद्धानन्दजी परमहंस ज्ञानगंज-जैसे योगाश्रम के किन्हीं प्रशिक्षित महापुरुष की कृपा से किशोर वय में ही अलौकिक उपाय से वहाँ पहुँचे थे। वहाँ उन्होंने सद्गुरु से ब्रह्मविद्या प्राप्त की थी और सुदीर्घ काल तक उन्होंने वहाँ रहकर योगविज्ञान का अभ्यास किया था। अभ्यास पूरा होने के बाद वे लोकालय, यानी भारत की मर्त्यभूमि में लौटे थे। ऐसी प्रसिद्धि भी तन्त्रजगत् में है कि इस योगाश्रम से संसृष्ट (Product) जिन योगियों का कर्म मर्त्यभूमि में पूरा नहीं होता, उनको देहावसान के बाद अपने अधूरे काम को पूरा करने के लिए ज्ञानगंज-स्थित योगाश्रम जाने का अवसर प्राप्त होता है।

ज्ञानगंज का देह और कर्मतत्त्व के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। ज्ञानगंज-जैसी सिद्धभूमि का परिचय शास्त्रानुशीलन से प्राप्त होता है अथवा किसी-किसी तपोबल महात्मा को अपने जीवन में उस योगभूमि के सम्बन्ध में कुछ-कुछ प्रत्यक्ष अनुभव भी प्राप्त होता है। उस गुप्त योगभूमि का दर्शन विशिष्ट शक्ति का विकास हुए बिना मर्त्यवासियों के लिए सम्भव नहीं है। विशिष्ट शक्ति से सम्पन्न मर्त्यजीव को ही

उस दिव्य आश्रम के अधिष्ठाता की अनुमति से उसका दर्शन सुलभ होता है।

सिद्धभूमियाँ अनेक हैं; जैसे— सिद्धभूमि, दिव्यभूमि, योगभूमि आदि। इन सभी भूमियों की अपनी-अपनी पृथक् विशेषताएँ होती हैं। ये एक दूसरे से सर्वथा भिन्न भी होती हैं, जिस प्रकार विश्वविद्यालयों का परस्पर भेद होता है और प्रत्येक की अपनी विशेषताएँ होती हैं। तुलना के लिए यदि हम इन्हें तीर्थों के रूप में देखें तो इनका महत्त्व उसी प्रकार भिन्न-भिन्न है, जिस प्रकार गोलोक धाम, नित्यवृन्दावन, नित्यसाकेत धाम, कैलास आदि स्थान अपने-आपमें भिन्न प्रकार के हैं। ये भिन्न-भिन्न सिद्धभूमियाँ विभिन्न प्रयोजनों की सिद्धि के लिए वैसे ही प्रतिष्ठित हुई हैं, जैसे विभिन्न विषयों के अध्ययन-अनुशीलन के लिए विभिन्न विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई है।

महामहोपाध्याय कविराजजी ने लिखा है कि ज्ञानगंज यद्यपि गुप्त रूप से पृथ्वी पर विराजमान है, तथापि उसका वास्तविक स्वरूप दूर-दूर तक व्याप्त है। सच्चे साधक योगियों के बिना इस स्थान का पता कोई दूसरा नहीं पा सकता, इसमें प्रवेश पाना तो बहुत दूर की बात है।

भूमि पर विद्यमान ज्ञानगंज कैलास से आगे ऊर्ध्व में अवस्थित है। किन्तु ऐसा होने पर भी वह साधारण पर्यटकों की गतिविधि से परे है। ज्ञानगंज सबसे नीचे का स्तर है, राजराजेश्वरी मठ मध्य स्तर में है और महायोगी-मन्दिर सबसे ऊपर है। यह स्थान योगियों द्वारा निर्मित होने के कारण 'महायोगी-मन्दिर' कहलाता है। यह ज्ञानगंज ब्रह्मा की लोकसृष्टि के रूप में प्रकट नहीं हुआ, वरन् किसी योग-साधक की तपस्या से प्रकट हुआ है। जैसे ध्रुव-सदृश साधक की तपस्या से ध्रुवलोक प्रकट हुआ और फिर गोलोकधाम मर्त्यभूमि पर श्रीकृष्ण के अवतरण के साथ ही उच्चतम नित्यधाम

के रूप में प्रकट हुआ, वैसे ही ज्ञानगंज किसी योगी की तीव्रतम योगसाधना के प्रभाव से विश्व-कल्याण का महालक्ष्य पूरा करने के उद्देश्य से निर्मित हुआ है।

ज्ञानगंज का ब्रह्मा की सृष्टि के साथ सघन सम्बन्ध है। यह ब्रह्मा की सृष्टि का नूतन आविष्कार है। यह अनादि काल से विद्यमान रहा है। पहले यह अव्यक्त रूप में था; बाद में पुष्ट रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

पुण्यश्लोक कविराजजी ने ज्ञानगंज की तुलना वृन्दावन से की है। वृन्दावन माधुर्यमयी भक्ति-साधना का श्रेष्ठ स्थान है। ज्ञानगंज कर्मभूमि है। पृथ्वी पर पार्थिव देह से सम्पन्न होनेवाले अधूरे काम ज्ञानगंज में पूरे हो सकते हैं। ज्ञानगंज में नूतन देह की प्राप्ति होती है, जिसका चरम लक्ष्य जरा और मृत्यु से छुटकारा पाना है। वृन्दावन में वैसे ही भगवान् की बहिरंग अथवा अन्तरंग साधना के उपयोगी भावदेह की प्राप्ति होती है। इस भावदेह के क्रम-विकास से कभी-न-कभी पूर्ण रस की अभिव्यक्ति होती है और चरम सिद्धि की उपलब्धि होती है। ज्ञानगंज में दिन-रात का विभाग नहीं है, वृन्दावन में भी वही बात है। ज्ञानगंज की भूमि जैसे मृत्तिका-रूप नहीं है, वैसे ही वृन्दावन की भूमि भी मृत्तिका-रूप नहीं है। दोनों मृण्मय नहीं, चिन्मय हैं।

इतनी समानता के बावजूद ज्ञानगंज का लक्ष्य शक्तिस्वरूपा जगन्माता की प्राप्ति है, किन्तु वृन्दावन में ये जगन्माता मातृरूप का त्याग कर रासलीला की प्रधान सखी का रूप धारण करती हैं। ज्ञानगंज की मातृभाव-धारा वृन्दावन में कान्तभाव ग्रहण कर युगल-उपासना में परिणत हो जाती है।

आध्यात्मिक ज्ञानगंज चैतन्य-भूमि है। पर जो व्यावहारिक ज्ञानगंज है, वह सिद्ध पुरुषों का सुपरिचित है। आध्यात्मिक या पारमार्थिक ज्ञानगंज योग के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हुए बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसीलिए कहा जाता है कि

तिब्बत के किसी विशेष स्थान पर ज्ञानगंज अवस्थित है, जहाँ वहाँ के अधिष्ठाताओं की सहानुभूति के बिना प्रवेश नहीं किया जा सकता; यहाँ तक कि उस स्थान का पता भी नहीं पाया जाता।

पं० गोपीनाथ कविराजजी के आध्यात्मिक गुरु योगिराज विष्णुद्वानन्द परमहंसजी पर बंगलाभाषा में लिखित ग्रन्थ में भी ज्ञानगंज का विवरण उपलब्ध है। 'ब्रह्माण्डनो भेद' नामक सन् १९२६ ई० में प्रकाशित गुजराती ग्रन्थ में; तिब्बत में स्थित 'सत्यज्ञानाश्रम' या 'ज्ञानमठ' नामक जिस गुप्त मठ की चर्चा की गई है, वह ज्ञानगंज से ही सम्बद्ध है। यह मठ हिमालय पर तिब्बत प्रदेश में अवस्थित है। इसके आठ किलोमीटर तक सदा बर्फ से आच्छादित रहनेवाला प्रदेश है। इस मठ में जिस प्रकार ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उस प्रकार अन्यत्र इस धरातल पर कहीं नहीं प्राप्त किया जाता।

प्रसिद्ध है कि राजा विक्रमादित्य के राज्यकाल में सिद्धपुरी, आत्मपुरी और ज्ञानपुरी नाम के तीन पर्यटकों ने भ्रमण के क्रम में कुछ दिन ब्रह्मप्रदेश में रहने के बाद इस गुप्त स्थान में आकर स्थायी रूप से निवास करना शुरू किया था। वहाँ योग, अमृतसिद्धि तथा अन्यान्य विज्ञान-विषयक तत्त्वों के सम्बन्ध में आलोचना होती थी।

'ब्रह्माण्डनो भेद' पुस्तक में लिखा है कि वह 'ज्ञानमठ' इतना गुप्त है कि सुदीर्घ काल में चीन, बर्मा और असम के बारह आदमियों के सिवा और किसी को इस स्थान का पता नहीं था। कुछ दिनों बाद दो महात्माओं ने इस स्थान का त्याग किया। रोम देश के एक यात्री ने भी इस स्थान की चर्चा 'ज्ञानमठ' के नाम से की है, जिसमें तीन महापुरुषों की अलौकिक दिव्य शक्ति की कथा कही गई है। एक ग्रीक पर्यटक ने भी इस स्थान का वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि तिब्बत के इस मठ के तुल्य

अद्भुत स्थान अन्यत्र पृथ्वी पर उन्होंने कहीं नहीं देखा। उनके मत से यथार्थतः यही भू-स्वर्ग ('Heaven of Earth') है।

चीन देश के इतिहासविद् 'फेंगलियान' (Fengliyan) ने कहा है कि दुर्गम पर्वत के मध्य में स्थित इस गुप्त मठ में योगक्रिया की जो आलोचना होती है, उसे कोई नहीं जानता। ऐसी अवधारणा है कि किसी समय पृथ्वीलोक की सच्ची उन्नति इन महान् योगियों द्वारा ही होगी। ये महायोगी अपनी इच्छा के अनुसार असम्भव को भी सम्भव कर सकते हैं। एक दूसरे इतिहासवेत्ता ने कहा है कि वायुमण्डल में एक अद्भुत दुर्ग की रचना कर ज्ञानमठ की रक्षा करने की व्यवस्था की गई थी।

'देवदर्शन' नामक पुस्तक के प्रथम खण्ड में यह चर्चा मिलती है कि अनन्त योगी नाम के एक महाराष्ट्रवासी योगी भगवान् दत्तात्रेय के आदेश से योगशिक्षा के लिए ज्ञानगंज गए थे और वहाँ उन्होंने कई वर्ष निवास किया था। यह विवरण ज्ञानगंज का व्यावहारिक विवरण है। पर किसी-किसी को ज्ञानगंज का पता लगता है, ऐसा जो सुना जाता है, उसका सम्बन्ध व्यावहारिक ज्ञानगंज से ही है। पारमार्थिक ज्ञानगंज को जानना या उसके बारे में पता करना सभी के लिए सम्भव नहीं है।

निष्कर्ष रूप में कविराजजी ने लिखा है कि कर्म (पुरुषार्थ) द्वारा अधिकार-सम्पत्ति की प्रबलता प्राप्त होने पर ज्ञानगंज की यह सिद्धि या प्राप्ति गुरुकृपा से ही सम्भव है। कर्म या पुरुषार्थ का तात्पर्य यौगिक कर्म से है और सद्गुरु वह योगी है, जो अपनी दुःख-निवृत्ति के साथ दूसरों की दुःख-निवृत्ति का भी उपाय करता है। इसलिए योगी के सिवा सद्गुरु या यथार्थ गुरु दूसरा नहीं हो सकता।

पी० एन० सिन्हा कालोनी,
भिखना पहाड़ी, पटना-८०० ०१६



असमय के सखा

□ प्रो० रामाश्रय प्रसाद सिंह

परम पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने अपनी पुस्तक 'दोहावली' के एक दोहे में मानव-जीवन के लिए सात शाश्वत-सनातन साथियों का उल्लेख किया है। जीवन के कष्टमय-कंकड़मय एवं संघर्षों से भरे मार्ग में, अनन्त काल से चली आती हुई जीवनयात्रा के लिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने सात समर्थ साथियों तथा सखाओं का वर्णन किया है। असमय आने पर, संकट उपस्थित होने पर ये सातों साथी मानव को सहायता एवं सहयोग देकर, सम्बल एवं सहारा प्रदान कर गन्तव्य तक पहुँचाते हैं। इन्हें गोस्वामीजी 'असमय का सखा', बुरे दिनों का सच्चा साथी कहते हैं।

ध्यातव्य है कि गोस्वामीजी को समय का बड़ा सच्चा ज्ञान था। उन्हें समय की सही पहचान थी। उचित अवसर पर ही कार्य की सिद्धि होती है। अतएव व्यक्ति को उचित समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए। समय अपने-आप में अचूक औषध है। विवेकी एवं धीर पुरुष, ससुरूप असमय आने पर, संकट उपस्थित होने पर विचलित नहीं होते और अपने पथ से डिगते नहीं। भर्तृहरि ने कितना सच कहा है—

निनदन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु

लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा

न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

(नीतिशतक : ८४)

नीति के ज्ञातागण चाहे निन्दा करें या प्रशंसा, लक्ष्मीजी चाहे आएँ या उनकी जहाँ भी इच्छा हो

चली जाएँ, मृत्यु चाहे आज ही हो जाए अथवा एक युग के बाद हो, परन्तु धीर व्यक्ति कभी अपने न्यायोचित मार्ग से एक कदम भी विचलित नहीं होते।

साधु-शिरोमणि, भक्तकवि गोस्वामी तुलसीदासजी को यह अच्छी तरह ज्ञात था कि उचित एवं उपयुक्त अवसर आने पर ही अभीष्ट कार्य पूरा होता है। इसीलिए अपने काव्य-ग्रन्थों में गोस्वामीजी ने बार-बार समय की प्रतीक्षा करने का उपदेश और सन्देश मानव-समुदाय को दिया है। प्रसंगानुसार गोस्वामीजी ने मानव को उपदेश दिलाते और देते बताया है कि समय बड़ा बलवान् होता है, अतः व्यक्ति को शबरी की भाँति अनुकूल समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए या परित्यक्ता अहल्या की भाँति धीरता से समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

उनके उपदेशों से हम संसारी मनुष्यों को जीवनयात्रा में बड़ा साहस और सम्बल मिलता है। उनके उपदेशों का सार यही है कि यदि हमारे जीवन में दुःख आ जाए, वियोग आ जाए, विपत्ति आ जाए तो हमें विचलित नहीं होना चाहिए। हमें धैर्य और साहस के साथ उस अनुकूल काल की प्रतीक्षा करनी चाहिए, जब हमें उस विपदा से, उस संकट से त्राण मिल जाए।

सुख और दुःख, हर्ष और विषाद, संयोग और वियोग, मान एवं अपमान, उत्थान एवं पतन, सुयश और अपयश जुड़वे भाई की भाँति हमारे जीवन में आते ही रहते हैं। हर प्राणी और पदार्थ को इस द्वन्द्व का, इस संघर्ष का सामना करना ही पड़ता

है। शीघ्रता में अधीर होकर हमें कोई ऐसा कदम नहीं उठाना चाहिए कि हमारी हानि हो, हमारा पतन हो।

गोस्वामीजी बताते हैं कि असमय के सात सच्चे सखा हैं, सात सहयोगी हैं, जो मानव को सदा समर्थ बनाकर सत्य की दिशा में ले चलते हैं। हमें यह नहीं समझना चाहिए कि ये सातों मित्र अनुकूल समय के ही साथी हैं। ये संसार के स्वार्थी साथियों के समान नहीं होते। संसार में ऐसा देखा जाता है कि कोई व्यक्ति यदि सुखी एवं सम्पन्न है, यदि उसका समय अनुकूल है और ठीक है तो उसके अनेक लौकिक मित्र होते हैं। पर ज्योंही विपत्ति आई, दुःख के दिन आए, सभी लौकिक साथी मुख मोड़ लेते हैं। किन्तु गोस्वामीजी जिन साथियों का उल्लेख करते हैं, वे दुःख और सुख में, हर्ष तथा विषाद में, संयोग एवं वियोग में बराबर साथ रहते हैं और सदा मानव को सत्य परामर्श देते रहते हैं।

ये ऐसे सच्चे साथी हैं, सच्चे सखा हैं, जो हमारी सहायता के लिए, हमारे मार्गदर्शन के लिए निरन्तर तत्पर रहते हैं। भले ही हम इन्हें पहचानते नहीं हैं, हम इन्हें महत्त्व नहीं देते, पर ये सदा हमारे साथ ही रहते हैं, हमारे साथ ही चलते रहते हैं। आवश्यकता है इन्हें पहचानने की, इन्हें अपनाने की और इनसे परामर्श लेकर जीवनयात्रा में सुकार्य एवं सत्कार्य करने की। ये सखा हैं— धैर्य, धर्म, विवेक, सत्साहित्य, साहस, सत्यव्रत और श्रीराम का भरोसा अर्थात् ईश्वरीय विश्वास। गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है—

तुलसी असमय के सखा धीरज धरम बिबेक।

साहित साहस सत्यव्रत राम भरोसो एक।।

(दोहावली : ४४७)

यह दोहा मानव की जीवनयात्रा में बड़ा सार्थक सम्बल प्रदान करता है। मानव-जीवन एक नदी के समान है— बड़ी गहरी और चौड़ी नदी,

भँवरों, लहरों, आवर्तों से युक्त नदी। इसके दो किनारे हैं— सुख और दुःख, संयोग और वियोग, सुदिन और दुर्दिन। इस जीवननदी को इन्हीं दोनों किनारों के बीच से होकर गुजरना पड़ता है। कभी यह जीवननदी सुदिन, सुख तथा संयोग के किनारे से सटकर प्रवाहित होती है तो कभी दुर्दिन, दुःख और वियोग के किनारे से सटकर चलती है। मानव की यह जीवननदी निरन्तर अबाधित-अनाहत गति से चलती रहती है। श्री आरसी प्रसाद सिंह ने अपनी एक कविता में लिखा भी है— “**सुख-दुख के दोनों तीरों से चल रहा राह मनमानी है**” मस्ती-रूपी जल से भरी यह जीवननदी (श्री आरसी प्रसाद के अनुसार जीवन-निर्झर) निरन्तर धावमान है, प्रवहमान है।

कवियों में सौम्य सन्त श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने भी अपनी ‘सुख-दुख’ शीर्षक कविता में कहा है—

यह सौँझ-उषा का आँगन आलिंगन विरह-मिलन का;

चिरहास अश्रुमय आनन रे इस मानव-जीवन का।

किसी बात को छायावाद के प्रतिष्ठापक कवि श्री जयशंकर प्रसाद अपनी एक कविता में दूसरे ढंग से कहते हैं—

मानव जीवनवेदी पर परिणय है विरह-मिलन का।

सुख-दुख दोनों नाचेंगे, है खेल आँख का, मन का।।

व्यक्ति के चाहने मात्र से यह जीवन-नदी किसी एक ही किनारे से नहीं चल सकती। हमारा पूरा जीवन ईश्वरेच्छा या नियति की इच्छा से संचालित होता है। जीवन में कुदिन और सुदिन बारी-बारी से आते ही रहते हैं। गोस्वामीजी ने ‘दोहावली’ में ही कहा है कि सुन्दर बुद्धिवाले मनुष्य इस बात का सदा विचार किया करते हैं कि अच्छा और बुरा समय दो दिनों का ही होता है अर्थात् थोड़े दिनों के लिए ये बारी-बारी से जीवन में आते रहते हैं। अतएव समय का सदुपयोग ही जीवन का लाभ है। पूरा दोहा इस प्रकार है—

**लाभ समय को पालिबो हानि समय की चूक।
सदा बिचारहिं चारुमति सुदिन कुदिन दिन दूक।।**

(दोहावली : ४४४)

बहुधा ऐसा देखा जाता है कि व्यक्ति के जीवन में भयंकर संकट उपस्थित हो जाता है, जीने की आशा क्षीण हो जाती है। व्यक्ति का धन नष्ट हो जाता है, वह रोगग्रस्त हो जाता है। उसका कोई आत्मीयजन जवानी में ही काल-कवलित हो जाता है। व्यक्ति अपयश का शिकार हो जाता है, उसके जीवन में पतन का सिलसिला शुरू हो जाता है। उस समय व्यक्ति बेचैन हो उठता है, आठ-आठ आँसू बहाने लगता है। किन्तु ऐसा करके व्यक्ति अपना कोई हित नहीं करता। उस समय उसे धैर्य धारण करना चाहिए। धैर्य ईश्वर की ओर से मिला हुआ श्रेष्ठ वरदान है। इसलिए गोस्वामीजी धैर्य को ही असमय तथा विपत्ति का पहला साथी बताते हैं। 'रामचरितमानस' में भी भक्त कवि गोस्वामीजी ने धैर्य को पहले स्थान दिया है—

धीरज धर्म मित्र अरु नारी।

आपद काल परिखिअहिं चारी।।

(रामचरितमानस : २.१५३.४)

किन्तु दशरथजी महाराज ने धैर्य धारण न किया और उनका प्राणान्त हो गया। इन दोनों ही प्रसंगों में गोस्वामीजी ने धैर्य को ही पहला स्थान दिया है। धैर्य, धर्म, मित्र और पत्नी इन चारों की परीक्षा आपत्ति आने पर ही की जानी चाहिए। विपत्ति आने पर यदि व्यक्ति धैर्य धारण करेगा और धर्म का सहारा लेगा तो दुःख पीड़ा नहीं देगा, विपत्ति कष्ट नहीं देगी। धैर्य और धर्म के पश्चात् मित्र और पत्नी ही व्यक्ति के दुःख और पीड़ा में सहायक होते हैं। यदि मित्र सच्चा है और पत्नी सुख-दुःख में पति की सच्ची सहायिका है तो विपत्ति कष्टदायिका नहीं होती। धैर्य और धर्म आत्मबल प्रदान करते हैं तथा मित्र एवं पत्नी सहयोग देकर व्यक्ति के कष्ट का निवारण करते हैं।

रामचरितमानस में मानव के चार साथी बताए गए हैं, जो भीतर और बाहर दोनों ओर से व्यक्ति को सहारा देते हैं। इन चारों के सहयोग से ही मानव अपना बुरा दिन शान्ति से काट लेता है और फिर उसके जीवन में सुख-शान्ति के दिन लौट आते हैं। इन चारों की सही पहचान विपत्ति के समय में ही होती है।

'दोहावली' के उक्त दोहे में असमय के जिन सखाओं का उल्लेख किया गया है, इनमें मित्र एवं नारी को छोड़ दिया गया है। इस दोहे में संसार के किसी भी सहयोगी तथा सम्बन्धी की चर्चा नहीं की गई है। बुरा समय आने पर अपनी छाया भी साथ नहीं देती; इस तरह की बात कही जाती है। ऐसी स्थिति में सांसारिक सम्बन्धियों, स्नेहियों और शुभचिन्तकों से किसी प्रकार की आशा करना पत्थर पर दूब उगाना है या आकाश में फूल खिलाने-जैसा है। इसलिए गोस्वामीजी इस दोहे में छह आन्तरिक साथियों— धीरज, धर्म, विवेक, साहित्य, साहस, सत्यव्रत का नाम लेते हैं और यदि व्यक्ति का इन पर भी विश्वास न हो तो वे अन्तिम साथी परमात्मा में अटूट विश्वास को बताते हैं।

'दोहावली' का यह दोहा मानव की जीवनयात्रा में बड़ा सार्थक सम्बल प्रदान करता है। सचमुच मानव के बुरे समय के ये ही सातों साथी हैं, जो निःस्वार्थ भाव से मानव को सहयोग देते रहते हैं। इनके सहयोग के अभाव में हमारे जीवन में आया बुरा समय हटने का नाम ही नहीं लेता। यदि व्यक्ति इन सातों का सहारा न लेगा तो बुरा समय उसके जीवनदीप को सदा के लिए बुझा देगा, उसकी जीवनयात्रा बीच में ही, असमय ही समाप्त हो जाएगी।

आइए, इन सात आन्तरिक सच्चे सखाओं एवं सहयोगियों के सम्बन्ध में थोड़ा विस्तार से जानने की कोशिश करें कि किस क्रम से और क्यों

इन्हें गोस्वामीजी ने असमय का सखा कहा है और इनके माध्यम से उन्होंने कौन-सा उपदेश और सन्देश देना चाहा है?

सन्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी की दृष्टि में मनुष्य के कुसमय का पहला सच्चा मित्र धैर्य है। हमारी जावनयात्रा में धैर्य ही सबसे बड़ा सम्बल है। विपत्ति-सागर को पार करने में धैर्य से बढ़कर कोई दूसरा जहाज नहीं है। धैर्य ही वह एकमात्र सशक्त सम्बल है, जिसके सहारे किसी प्रकार का संकट दूर किया जा सकता है। धैर्य के अभाव में हमारा कोई अन्य गुण सहायक नहीं बन सकता। धैर्य ही धर्म के दस लक्षणों में प्रधान है। मनु महाराज ने धर्म के जिन दस लक्षणों का उल्लेख किया है, उनमें सबसे पहला और प्रधान लक्षण धैर्य ही है—

धृतिक्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधः दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनुस्मृति : ६.६२)

धैर्य का अर्थ है— संकट या बाधा उपस्थित होने पर चित्त की स्थिरता, आतुर-व्याकुल न होने का भाव, चित्त में उद्वेग न होने का भाव, सब्र आदि। धैर्य का अर्थ है— स्थितप्रज्ञता, दुःख या विपत्ति आने पर विचलित न होना, हिम्मत न हारना, साहस न खोना। इसलिए संस्कृत में एक सुभाषित है— “धीरास्तरन्ति विपदं न हि दीनचित्ताः।”— धीर पुरुष विपत्ति को पार कर जाते हैं, दीन, दुःखी या दुर्बल चित्तवाले नहीं। भर्तृहरि के ‘नीतिशतक’ में सज्जनों और मनस्वियों के स्वभाव की प्रशंसा में दो बड़े अच्छे श्लोक मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं—

(क) विपदि धैर्यमथाभ्युदयेक्षमा

सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।

यशसि चाभिरुचिर्व्यसनंश्रुतौ

प्रकृतिसिद्धमिदं ही महात्मानाम्॥

(नीतिशतक : ६३)

विपत्तिकाल में धैर्य, ऐश्वर्य में क्षमा, सभा में वचन-चातुर्य, युद्ध में पराक्रम, सुयश में अभिरुचि और शास्त्रों में व्यसन— ये सारे गुण महापुरुषों में स्वभाव से ही होते हैं।

(ख) क्वचित् पृथ्वीशय्यः क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः

क्वचित् शाकाहारः क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।

क्वचित् कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो

मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्॥

(नीतिशतक : ८२)

कार्य को पूरा करने का इच्छुक धीर व्यक्ति अपने मार्ग में आनेवाले दुःख या सुख की परवाह नहीं करता। कभी वह धरती पर सोता है तो कभी पलंग पर; कभी वह कन्द-मूल खा लेता है तो कभी अच्छे चावल का आस्वादन करता है; कभी वह गुदड़ी पहन लेता है तो कभी श्रेष्ठ वस्त्र धारण करता है।

सचमुच धीर व्यक्ति ही संसार-सागर को आसानी से और निरापद पार कर पाता है। धैर्यशील व्यक्ति ही इस संसार में यशस्वी बनता है। जो कठिनाइयों से घबड़ा गया, भय और प्रलोभनों से अपने कर्तव्यपथ से, न्यायपथ से विचलित हो गया, वह मानो समाप्त हो गया, उसका जीवन नष्ट हो गया, इसलिए गोस्वामीजी हमें बताते हैं कि धैर्य मानव के कुसमय का सच्चा साथी है।

संसार का इतिहास बताता है कि जिसने भी विपत्ति में, दुःख और संकट में धैर्य को अपने साथ रखा, वह अन्त में सुख का भागी बना। असमय को, दुःख या विपत्ति को अभिशाप नहीं मानना चाहिए। विपत्ति परीक्षा बनकर आती है, विपत्ति कसौटी बनकर आती है। इसी परीक्षा में, इसी कसौटी पर सच्चे व्यक्ति की, मनस्वी मनुष्य की पहचान होती है। विपत्ति में ही हमारी आन्तरिक सोई हुई शक्ति का प्रस्फुटन होता है, संकट के समय ही हमारे आन्तरिक गुणों का प्रकाश होता है। अतएव

मानव को दुःख या विपत्ति में अपना धैर्य नहीं खोना चाहिए।

कहीं पढ़ा था कि प्रलयकाल के पवन से पर्वत चलायमान हो जाते हैं, पर घोर कष्ट पड़ने पर भी धीर पुरुषों का निश्चल चित्त चलायमान नहीं होता—

चलन्ति गिरयः कामं युगान्तपवनाहताः।

कृच्छ्रेऽपि न चलत्येव धीराणां निश्चलं मनः॥

असमय का दूसरा सखा धर्म है। हमारे शास्त्र और साहित्य धर्म से भरे पड़े हैं। धर्म ही इस भारतराष्ट्र का प्राणतत्त्व है। धर्म ही भारतराष्ट्र-शरीर का मेरुदण्ड है। धर्म ही आर्य-मन का आधार है। धर्म-मेरुदण्ड के अभाव में भारतराष्ट्र-शरीर गतिहीन हो जाएगा। मानव-जीवन में धैर्य के साथ धर्म ही सनातन साथी है। मृत्यु के पश्चात् एक मात्र धर्म ही परलोक के मार्ग में जीव के साथ जाता है।

युधिष्ठिर के स्वर्गरोहण के समय किसी पाण्डव ने साथ नहीं दिया। द्रौपदी भी साथ नहीं गई। एकमात्र धर्म ही युधिष्ठिर के साथ गया। हमारे और आपके साथ भी धर्म ही साथ जाएगा। इस जीवन में और परलोक में भी धर्म ही साथ जाएगा। इसलिए गोस्वामीजी धर्म को मनुष्य का सनातन सच्चा साथी बताते हैं। भक्तकवि तुलसीदासजी इस दोहे में बताते हैं कि धर्म ही व्यक्ति को विपत्ति में साथ देता है और धर्ममय जीवन व्यतीत करते हुए मनुष्य विपत्ति के सागर को, असमय में आए संकट को पार कर जाता है।

ऐसा देखा जाता है कि जब हमारे जीवन में कुसमय आता है, तब संसार के अपने नजदीकी, स्नेही एवं मित्र सभी साथ छोड़ देते हैं। किन्तु एक मात्र हमारा धर्म ही है जो कभी साथ नहीं छोड़ता। यह धर्म ही विपत्ति में व्यक्ति को सम्बल और सहारा देता है। 'ब्रह्मपुराण' में कहा गया है कि अकेला धर्म ही सर्वत्र सहायक और रक्षक होता है—

धर्म एको मनुष्याणां सहायः परिकीर्तितः।

(ब्रह्मपुराण : २७.६)।

कहा गया है— 'धिन्वनाद् धर्मः।' 'धिन्वन्' का अर्थ है— धारण या आश्वासन देना, दुःख से पीड़ित समाज को धीरज देकर सुख का मार्ग दिखाना। धर्म के इस व्यापक अर्थ से गोस्वामीजी पूर्ण परिचित थे। इसीलिए उन्होंने अपने इस दोहे में बताया है कि धर्म व्यक्ति का हर समय साथ देनेवाला सच्चा साथी है। असमय आने पर ही धर्म का महत्त्व प्रकट होता है। अतएव जो व्यक्ति धर्म का आचरण करता है, वह विपत्ति में भी अडिग रहता है। उस समय धर्म कवच बनकर उसकी रक्षा करता है। 'तैत्तिरीय उपनिषद्' में आचार्य का उपदेश है— 'सत्यं वद। धर्मं चर।'— सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो। धर्म ही अनुष्ठेय कर्म है। यही एकमात्र करणीय कर्म है। यह धर्म ही है, जो मानव को संसार-सागर के भयावह थपेड़ों से त्राण दिलाता है। इसीलिए वेदों में धर्म को सम्पूर्ण जगत् को प्रतिष्ठित करनेवाला, स्थिर करनेवाला कहा गया है—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा

लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।

धर्मेण पापमपनुदन्ति

धर्मो सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति।

(कृष्णयजुर्वेद, तैत्तिरीय आरण्यक : १०.६३)

कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म ही सम्पूर्ण जागतिक पदार्थमात्र को स्थिर करनेवाला है। धर्मिष्ठ के पास ही प्रजाजन जाते हैं। धर्म से ही पाप दूर होता है। इसीलिए धर्म को सबसे बड़ा कहा गया है।

गोस्वामी तुलसीदासजी मानव-जीवन में धर्म के इस सर्वोपरि महत्त्व को अच्छी तरह जानते थे। इसलिए उन्होंने धर्म को मानव के असमय का मित्र

कहा है। इहलोक और परलोक दोनों में एक समान साथ निभानेवाला सखा धर्म ही है। मृत्युमार्ग में धर्म ही साथ देता है। नीतिकार चाणक्य का कथन द्रष्टव्य है—

**विद्यामित्रं प्रवासेषु भार्या मित्रं गृहेषु च।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च॥**

(चाणक्यनीति : ५.१५)

वन में, रण में, जल में, अग्नि में सर्वत्र धर्म ही हमारी रक्षा करता है— **‘वने रणे शत्रु-जलानिमध्ये रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि।’** ऐसा अपने ‘नीतिशक’ में भर्तृहरि ने भी कहा है। इस अनित्य शरीर के साथ का कुछ भी अनित्य पदार्थ नहीं जाता। जीवात्मा के साथ मरणोपरान्त एक मात्र धर्म जाता है। अतः धर्म का ही संग्रह करना चाहिए। धर्म ही जीव का सनातन साथी है। इसीलिए सनातन धर्म कहा जाता है। **‘सनाभवः सनातनः।’** ‘सना’ एक अव्यय है, जिसका अर्थ है— सदा, सर्वदा, हमेशा। जो सदा रहे, वह सनातन है। यही हमारे असमय का सखा है। धैर्य और धर्म दोनों कवच बनकर सतत हमारी रक्षा करते रहते हैं। ‘मनुस्मृति’ में इसीलिए कहा गया है— **‘धर्मो रक्षति रक्षितः’**— धर्म की रक्षा करते रहने से धर्म भी हमारी रक्षा करता है। इसीलिए ‘दोहावली’ के इस दोहे में धर्म को असमय का सखा कहा गया है।

मानव का तीसरा सच्चा सखा विवेक है। विवेक क्या है? सत् और असत् का, सौँच और झूठ का, सार और असार का, नित्य और अनित्य का ज्ञान करानेवाला ही विवेक है। जिस व्यक्ति के जीवन में विवेक का बल है, वही धीर है, वही धार्मिक है और वही सच्चा मनुष्य है। विवेकी व्यक्ति जीवन के कण्टकाकीर्ण पथ पर अडिग रहकर अपनी जीवनयात्रा पूरी करता है। वह कठिनाइयों को, विपदाओं को निर्भीकता के साथ, प्रसन्नता से झेल लेता है। शास्त्रों एवं सन्तों की मान्यता है कि इस

मानव-जीवन की महिमा विवेक के कारण ही है। यह विवेक ही है, जो मानव को असत् (संसार) से हटाकर सत् (परमात्मा) का बोध कराता है। यह विवेक ही है, जो मानव-जीवन में समत्व और शान्ति लाता है। गोस्वामीजी इसीलिए विवेक को असमय का सखा कहते हैं।

यह विवेक आता कैसे है? गोस्वामी तुलसीदास रामचरितमानस के प्रारम्भ में ही बताते हैं कि श्रीराम की कृपा से सत्संग की प्राप्ति होती है और सत्संग से विवेक प्राप्त होता है—

बिनु सतसंग बिबेक न होई।

रामकृपा बिनु सुलभ न सोई।।

(मानस : १.३.४)

इसलिए मानव को अपना विवेक सदा जागृत रखना चाहिए। इस विवेक से ही मोह का नाश होता है। भागवत महापुराण के माहात्म्य में भी कहा गया है—

भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन

सत्सङ्गं च लभते पुरुषो यदा वै।

अज्ञानहेतुकृ तमोहमदान्धकार-

नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः।।

(भागवत-महात्म्य : २.७५)

हमारी बुद्धि जब निर्मल बन जाती है, तब वह विवेक की संज्ञा पाती है। इसलिए हमें अपने विवेक का सदा आदर और सम्मान करना चाहिए। गोस्वामीजी की मान्यता है कि जो व्यक्ति विवेक को सदा अपने साथ लिए चलता है, वह कभी विचलित होता। आंजनेय महाप्रभु और भक्तशिरोमणि भरत दोनों परम विवेकी हैं। इसीलिए दोनों अपने जीवन की सारी कठिनाइयों और आपदाओं को आसानी से झेल लेते हैं। हनुमान्जी महाराज के लिए कहा गया है— **‘बुद्धि विवेक विज्ञान निधाना।’** भरतजी के लिए कहा गया है— **‘भरत विवेक बराह बिसाला।’** ‘धर्मरथ’ के वर्णन के क्रम

में भी गोस्वामीजी ने चार घोड़ों के प्रतीक के रूप में कहा है—

**बल बिबेक दम परहित घोरे।
छमा कृपा समता रजु जोरे।।**

(मानस : ६.८०.३)

इसीलिए दोहावली के इस दोहे में असमय के सच्चे सखा के रूप में विवेक की गिनती की गई है।

गोस्वामीजी की दृष्टि में विपत्ति के समय पुरुष का चौथा सखा साहित्य है। यहाँ साहित्य से तात्पर्य सत् साहित्य से है, सत् शास्त्र से है। वह सर्जना, वह रचना जो हित के साथ है, मानव-मंगल करनेवाली है, साहित्य है। आज साहित्य से तात्पर्य Literature से माना जाता है। अंगरेजी में Literature का अर्थ है— Letter या अक्षर में जो लिख दिया जाए, वह साहित्य (Literature) है। किन्तु भारतवर्ष में साहित्य का यह अर्थ नहीं माना गया। हमारे यहाँ उसी रचना को साहित्य माना गया जो मानवहित या प्राणियों के हित के प्रति समर्पित हो। गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरितमानस में कहा भी है—

**कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।**

(मानस : १.१३.५)

साहित्य और शास्त्र हमें विवेक की आँख प्रदान करते हैं। साहित्य पढ़ने से धर्म तथा नीति के प्रति हमारी आस्था जगती है। नैतिकता की नींव कवि और साहित्यकार ही डालते हैं; मात्र उपदेशक नहीं। अंगरेज कवि पी०बी०शेली (P. B. Shelley) ने भी कहा है— “The leasis of morality is laid not by preachers but by poets.” इसलिए गोस्वामीजी दोहावली के इस दोहे में साहित्य को मानव के असमय के सखा के रूप में मानते हैं।

कविता और साहित्य हमारे हृदय की संकुचितता— संकीर्णता को मिटाते हैं, हमारे विवेक

को प्रदीप्त करते हैं और शेष सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

साहित्य पढ़ने से हमारा अन्तःकरण-चतुष्टय— मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार-निर्मल बनता है। विपत्ति आने पर सत् साहित्य के अध्ययन से, वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, भागवत, वेदान्त, धर्म-ग्रन्थ, शास्त्रादि के चिन्तन-मनन से आत्मबल बढ़ता है और सत् पुरुषों, सज्जनों तथा महापुरुषों के चरित्र से हमें साहस, धैर्य, विवेक आदि की प्राप्ति होती है। रामायण में भगवान् राम के चरित्र से, भागवत में श्रीकृष्ण के चरित्र से, महाभारत में युधिष्ठिर, नल, अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव, सीता, सावित्री, द्रौपदी आदि के चरित्रों से हमें प्रेरणा का प्रकाश मिलता है। इसलिए गोस्वामी तुलसीदासजी साहित्य को विपत्ति का, कुसमय का, असमय का साथी कहते हैं।

असमय का एक सखा साहस भी है। यह मानव का पाँचवाँ सच्चा सखा है। साहस आत्मा का एक ऐसा धर्म है, एक ऐसा गुण है, जिसे अपनाकर मानव असम्भव को सम्भव बना देता है। हमारी आत्मा में अपार शक्ति, साहस और सामर्थ्य है। मानव यदि इस अप्रतिम-असीम शक्तिसम्पदा को समझ ले, जान ले तो वह भारी-से-भारी विपत्ति को भी क्षण में समाप्त का दे। संसार में जितने भी कर्म हुए हैं, जितने भी महान् कार्य हुए हैं, वे सब संकल्प एवं साहस से ही सम्पन्न हुए हैं। साहस मानवजाति का सबसे बड़ा सम्बल और हितैषी है। रामचरितमानस में एक प्रेरक प्रसंग है। समुद्र के किनारे हताश, उदास और निराश बन्दरों तथा भालुओं को देखकर विवेक के देवता ब्रह्मा के अंश से उत्पन्न जामवन्तजी हनुमान्जी को लक्ष्य करके कहते हैं—

**पवन तनय बल पवन समान।
बुद्धि बिबेक बिग्यान निधान।।**

**कवन सो काज कठिन जग माहीं।
जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं।।**

(मानस : ४.३०.२-३)

सचमुच यह साहस है, जो आदमी को संसार-सागर से पार होने का सम्बल प्रदान करता है। असम्भव को सम्भव कौन बनाता है? साहस ही। जीवन को सुखमय एवं समृद्धिमय कौन बनाता है? साहस ही। साहस ही वह मनोभाव है, जो मानव को ऊँचा और ऊपर उठाता है, जीवन-पथ पर उसे आगे बढ़ाता है, कष्ट-कष्टकों के बीच से निकलने की राह बताता है। जीवन के घनीभूत अन्धकार में आशा की किरण साहस के द्वारा ही प्राप्त होती है। अतः साहस भी मानव का सच्चा साथी है। इसके अभाव में व्यक्ति सब कुछ रहते हुए भी कुछ नहीं कर सकता। इसलिए गोस्वामीजी ने साहस को असमय का सखा कहा है।

गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि में असमय का छठा साथी सत्यव्रत है। परमेश्वर का एक नाम सत्य है। हमारे यहाँ माह में पूर्णिमा की शाम को सत्यदेव भगवान् की पूजा की बड़ी पावन परम्परा मिलती है। सत्य और अहिंसा आर्यजीवन-धारा के दो सुदृढ़ किनारे हैं। सत्य का व्रत लेना आत्मबल को विकसित करना है। सत्यव्रत का पालन कर ही संसार के श्रेष्ठ पुरुष असम्भव को सम्भव बना सके हैं। शौर्य एवं धैर्य, सत्य तथा शील धर्मरथ के चक्र और ध्वज-पताका हैं। मानस के लंकाकाण्ड में धर्मरथ अर्थात् विजयरथ के वर्णन के क्रम में गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना।

जेहिं जय होई सो स्यन्दन आना।।

सौरज धीरज तेहि रथ चाका।

सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।।

(मानस : ६.८०.२-३)

गोस्वामीजी की दृष्टि में सत्य ही धर्म है—
'धर्म न दूसर सत्य समाना।' असत्य अधर्म और

पाप है— 'नहिं असत्य सम पातक पुंजा।' यदि जीवन में सत्य का बल है तो जीवन सार्थक है, जीवन सही है। श्रीराम का जीवन सत्यमय था। रामचरितमानस में दशरथजी और रामजी दोनों के लिए 'सत्यसंध' शब्द आया है। गांधीजी का जीवन भी सत्यमय था। गांधीजी तो सत्य को ही ईश्वर मानते थे। वेदों, पुराणों, नीतिग्रन्थों तथा स्मृतियों में सर्वत्र सत्य की अपार महिमा गाई गई है। रामचरितमानस में कहा गया है—

सत्यमूल सब सुकृत सुहाए।

वेद पुरान बिदित मनु गाए।।

(मानस : २.२८.३)

भागवत महापुराण तो एकमात्र 'सत्यं परं धीमहि' का ही गान करता है। इस महापुराण का प्रारम्भ और अन्त दोनों 'सत्यं परं धीमहि' से ही होता है। इस महापुराण का तात्पर्य परम सत्य की प्राप्ति ही है। 'चाणक्यनीति' में कहा गया है कि सत्य के चलते ही पृथ्वी स्थिर है, सूर्य भी सत्य के बल पर ही प्रकाश देता है, सत्य से ही वायु बहती है। इस प्रकार सब कुछ सत्य में ही स्थिर है—

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः।

सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्।।

(चाणक्यनीति : ५.१६)

इस प्रकार सचमुच मानव-जीवन का सच्चा साथी सत्यव्रत है।

गोस्वामी तुलसीदासजी सन्त श्रे। सन्त दयालु और कृपालु होते हैं। परहित-रत रहना सन्त का सहज स्वभाव है। मानव को शक्ति और साहस के साथ आत्मबल प्रदान करने के लिए ही सन्त अपनी वाणी का उपयोग करते हैं। इसलिए गोस्वामीजी प्रस्तुत दोहा में बताते हैं कि विपत्ति के समय व्यक्ति को यदि ये छहों साथी भी साथ न दें, (यद्यपि ऐसा सम्भव नहीं है) तो भी व्यक्ति को निराश, हताश एवं उदास होने की आवश्यकता नहीं है। मानव का

एक साथी ऐसा है, जो सदा उसका साथ देता रहता है और वह है उसका सनातन साथी परमात्मा। तुलसीदासजी के इष्टदेव श्रीराम हैं। वे ही परब्रह्म परमात्मा हैं। उनकी मान्यता है कि सारे सहारे भले ही छुट जाएँ, पर श्रीराम का, परमात्मा का सहारा, उसका भरोसा न छुटे। अर्हर्निश परमात्मा-परमेश्वर की कृपा बरसती रहती है। हमें उस कृपा की अनुभूति करते रहनी है। ईश्वर का, राम का भरोसा और विश्वास ही व्यक्ति को विपत्ति से त्राण दिला सकता है। कहा भी गया है कि विपत्ति विपत्ति नहीं है और सम्पत्ति सम्पत्ति नहीं है। ईश्वर की विस्मृति ही विपत्ति है और ईश्वर की स्मृति ही सम्पत्ति है—

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः।

विपदः विष्णोर्विस्मृतिः सम्पन्नारायण-स्मृतिः॥

गोस्वामी तुलसीदासजी की मान्यता है कि भगवान् का स्मरण करने से अनेक जन्मों की विगड़ी बर जाती है—

**विगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥**

(दोहावली : २२)

आवश्यकता है रामजी का होकर रामजी को पुकारने की। 'राम भरोसो एक' कहने का गोस्वामीजी का तात्पर्य भी यही है कि एकमात्र श्रीराम का भरोसा ही रखना है। 'चातकछतीसा' में भी

गोस्वामीजी कहते हैं—

एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास।।

(दोहावली : २७७)

प्रस्तुत दोहा हमारे जीवन में ईश्वर-भक्ति का संचार करता है और दुःख तथा विपत्ति में परमात्मा का साथ नहीं छोड़ने का दिव्य सन्देश देता है। सचमुच परमात्मा ही जीव का सच्चा और सनातन साथी है। वेदों में कहा गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया

समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तद्योरन्यः पिप्पलं

स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो ऽभिचाकशीति।।

(अथर्ववेद : ६.१४.२०,

ऋग्वेद : १.१६४.२० तथा

ऋग्वेद : १.१६४.२० तथा

ऋग्वेद : ४.६)

आएँ, इस दोहे से सीख लेकर परमात्मा को अपना सनतन साथी मानकर उसी पर भरोसा करके अपनी जीवनयात्रा पूरी करें और शोकरहित हो जाएँ।

ऋतम्भरा, शान्तिपुरी,

पो० : मोतीहार,

पूर्व चम्पारण (बिहार),

पिन कोड : ८४५४०९

ॐ

कहाँ जाइए हो घरि लागो रंग । मेरो चित चंचल मन भयो अभंग ।
जहाँ जाइए तहँ जल पषान । पूरि रहे हरि सब समान ।
बेद स्मृति सब मेल्ले जोइ । उहाँ जाइए हरि इहाँ न होइ ।
एक बार मन भयो उमंग । घसि चोवा चन्दन चारि अंग ।
पूजत चाली ठाईं ठाईं । सो ब्रह्म बतायो गुरु आप बाईं ।
सतगुर मैं बलिहारी तोर । सकल बिकल भ्रम जारे मोर ।
रामानन्द रमे एक ब्रह्म । गुरु कै सबद काहै कोटि क्रम ।

— रामानन्दाचार्य

गीतासार : एक दृष्टि

□ डा० विद्यानन्द उपाध्याय

भगवद्गीता हिन्दुओं की दृष्टि में एक पवित्र रचना है, सम्माननीय है। यह एक सार्वभौम जीवन-दर्शन की पुस्तक है। इसमें सत्य, अहिंसा, त्याग, निरपेक्षता, समत्व, कर्म, भक्ति, ज्ञान एवं उपासना के तथ्यों को व्यापक रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'गीता' महाभारत के भीष्मपर्व (अध्याय २५-४२) का एक महत्वपूर्ण अंश है। डा० राधाकृष्णन के अनुसार इसमें जो धार्मिक और आध्यात्मिक तथ्य भरे पड़े हैं, वे विश्व-साहित्य में अन्यत्र मिलना दुर्लभ हैं। जितनी बातें उपनिषद् में हैं, वे सब गीता में हैं। वस्तुतः यह उपनिषदों का सार है; कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

लोकमान्य तिलक के अनुसार—
“श्रीमद्भगवद् गीता हमारे धर्मग्रन्थों का एक अत्यन्त तेजस्वी एवं निर्मल हीरा है।” श्री अरविन्द ने तो गीता को भारतीय आध्यात्मिकता का सुमधुर फल कहा है। वस्तुतः गीता शान्तिदायक, ज्ञानदायक एवं दुःखों से मुक्ति देनेवाली है। इसी सन्दर्भ में श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा था—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता : १८.६६)

इसी गीता (१८.६८-७१) में गीता के महत्व को बताते हुए श्रीकृष्ण ने कहा था— जो कोई मुझमें पराभक्ति रखकर इस परम गोपनीय गीता को मेरे भक्तों को सुनाएगा, वह निश्चय ही मुझे प्राप्त करेगा। धर्म से मुक्त जो भी हम दोनों (कृष्ण-अर्जुन)

के इस संवाद को, अर्थात् गीता को पढ़ेगा, उसका मैं इष्ट हूँ। जो इस गीता के पाठ को श्रद्धायुक्त होकर सुनेगा, वह अवश्य ही मुक्त होकर दिव्य लोक को प्राप्त करेगा।

महाभारत की रचना की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। चिन्तामणि विनायक वैद्य, करीन्दकर आदि के अनुसार महाभारत की लड़ाई ११ दिसम्बर ३१०२ ई० पूर्व में प्रारम्भ हुई थी। प्रो० अथर्वले के अनुसार यह तिथि ३०१८ ई० पूर्व थी, जबकि प्रो० तारकेश्वर भट्टाचार्य की दृष्टि में १४३२-३१ ई० पूर्व में लड़ाई प्रारम्भ हुई होगी। जो भी हो; यह मान्य है कि गीता अत्यन्त प्राचीन धार्मिक रचना है। महाभारत की युद्धभूमि में जब अर्जुन अपन स्वजनों को अपने समक्ष देखकर मोहजाल में फँसकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए, तब श्रीकृष्ण ने अपने गीताज्ञान से अर्जुन का मोहभंग कर युद्ध के लिए प्रेरित किया। यह गीताज्ञान सार्वभौम है एवं इसकी महत्ता अकथनीय है। सत्य, अहिंसा, त्याग, निरपेक्षता, समत्व, कर्म, ज्ञान और उपासना का दिया गया ज्ञान व्यापक है। वैसे गीता का मुख्य विषय तो मात्र यह है कि 'मृत्यु' कोई अपूर्व वस्तु नहीं है। कोई मरता नहीं है। 'आत्मा' अजर और अमर है।

गीता का सार है— ब्रह्मबोध। यह ब्रह्मबोध कैसे होता है, इसका उपाय गीता में बताया गया है। इसके दो मुख्य उपाय हैं—

ज्ञाननिष्ठा— ज्ञाननिष्ठा का दूसरा नाम सांख्यनिष्ठा या कर्मसंन्यास भी है। अपने समस्त कार्यों, इच्छाओं और अपने-आप को,

अभिमान-रहित होकर, उस परमेश्वर में मिला देना ही 'ज्ञाननिष्ठा' है; अर्थात् उस ज्ञानमय से एकनिष्ठ हो जाना ही गीता का उपदेश है। संसार में जो कुछ भी है, जिसे हम देख रहे हैं, सब ब्रह्ममय है। संसार में कुछ भी किया जाए, ब्रह्ममय होकर किया जाए; वही सार्थक है। ईश्वर की महिमा को समझ उसमें समाहित होना ही ज्ञाननिष्ठा है।

योगनिष्ठा— योगनिष्ठा का ही नाम है— समन्तपयोग, बुद्धियोग या त्याग। यह जो भी दृश्यमान है, उसके प्रति अनाशक्ति, अनिच्छा, कर्मों के प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति और मन, वचन, कर्म से उसी प्रभु के अधीन हो जाना ही योगनिष्ठा है। यह योगनिष्ठा ही कर्मयोग है।

कर्मयोग के तीन भेद हैं— (१) केवल कर्मयोग, (२) भक्तिमिश्रित कर्मयोग और (३) भक्तिप्रधान कर्मयोग।

फल और आसक्ति दोनों का एक साथ त्याग होना ही 'केवल कर्मयोग' है। अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार परमेश्वर की पूजा-अर्चना करके उन्हें प्रसन्न करना ही 'भक्तिमिश्रित कर्मयोग' है। अनासक्ति, अनिच्छा और त्याग से सम्पन्न होकर सब कुछ उस विश्वात्मा का है; ऐसा समझना और भजन, ध्यान, उपासना, कर्म आदि सब कुछ परमेश्वर को अर्पण कर देना भक्तिप्रधान कर्मयोग है।

ब्रह्म और आत्मा— गीता में ब्रह्म और आत्मा का निरूपण समान आधार पर किया गया है। कृष्ण ने कहा है— आत्मा अजर है, अमर है। पुराने वस्त्रों के परित्याग की तरह आत्मा पुराने शरीर को छोड़ नए शरीर को धारण करती है। अतः सांसारिक मोह-माया व्यर्थ हैं। ब्रह्म ही सत्य है और आत्मा का परमात्मा में मिलन ही अमरत्व का प्रतीक है। अमरत्व की प्राप्ति के लिए ही कृष्ण ने योग— कर्मयोग पर बल दिया है। उनके अनुसार विवेक से परम तत्त्व

की उपलब्धि होती है। चित्तशुद्धि के बिना विवेक नहीं आता है और चित्तशुद्धि के लिए कर्मों के अनुष्ठान की आवश्यकता होती है।

श्रीधर स्वामी ने कहा है— **“न च चित्तशुद्धिं विना कृतात् संन्यासात् एवं ज्ञानशून्यात् सिद्धिं मोक्षं समधिगच्छति प्राप्नोति।”** निष्ठावान् कर्मयोगी के प्रति अच्छी भावना रखते हुए कृष्ण ने कहा है कि जो भी कर्म मुझे समर्पित कर किया जाता है कि उसका फल अच्छा ही होता है। श्री कृष्ण ने कहा है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।

अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।

भवामि न चिरात्पार्थ मध्यावेशितचेतसाम्।।

(गीता : १२.६-७)

अर्थात् जो भक्तजन सम्पूर्ण कर्मों का फल मुझे अर्पण करके मुझे सगुणरूप परमेश्वर को अनन्य ध्यानयोग से निरन्तर चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, हे पार्थ! मुझमें आश्रित अपने उन भक्तों को मैं शीघ्र ही इस मृत्युरूप संसार-सागर से उद्धार कर देता हूँ।

अनासक्त और निष्काम कर्मयोग-कर्मयोग गीता का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसका कर्मयोग जितना उपयोगी है, उतना ही कठिन भी है। गीता (३.६) में निष्काम कर्मयोग को 'यज्ञ' कहा गया है। श्रीकृष्ण ने— **“तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर। असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः।”** इन शब्दों में स्पष्ट कहा है कि हे अर्जुन! तू अनासक्त होकर निरन्तर कर्तव्ययुक्त कर्मों को करता जा। अनासक्त होकर कर्म करनेवाला पुरुष परमात्मा को प्राप्त होता है।

गीता का अनुशासित यह कर्तव्य वस्तुतः बड़ा ही सर्वभौम है। गीता में यद्यपि ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ कहा गया है— **“सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते”** (गीता : ४.३३) और ज्ञान की ही

प्राप्ति से परम पद की प्राप्ति होती है। किन्तु कर्म और भक्ति के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती और यह सत्य है कि अनासक्त होकर कर्म किए बिना भक्ति नहीं मिलती। अतः कर्म, भक्ति और ज्ञान का परस्पर अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन तीनों की उपस्थिति के पश्चात् ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। गीता का कर्मयोग मोक्षदायी तो है ही लोक-कल्याणकारी भी है। गीता (२.२३-२४) में श्रीकृष्ण ने कर्म की महत्ता बताते हुए कहा है कि यदि असावधानी वश मैं कर्म नहीं करूँ तो लोग भी मेरा अनुसरण करते हुए ऐसा ही करेंगे और इस स्थिति में सारी प्रजा का विनाशक बन जाऊँगा। श्रीकृष्ण कर्म करने के लिए उत्प्रेरित करते हैं। उनका कहना है कि फल की चिन्ता न की जाए। फल के लिए वे उत्तरदायी हैं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता : २.४७)

लेकिन श्रीकृष्ण यह भी कहते हैं कि कर्म अपने लिए न सही, लोक-कल्याण के लिए करना चाहिए; क्योंकि यह परम सिद्धि को देनेवाला है। (गीता : ३.२०)

वस्तुतः यह मान्य है कि गीता का कर्मसिद्धान्त पारलौकिक दृष्टि पर आधारित है और उससे समस्त भारतीय धर्मपद्धति का मर्म समझ में आ सकता है।

भक्ति— गीता में भक्ति को भी महत्त्व दिया गया है। अनुपम एवं प्रभु के प्रति समर्पित भक्ति-भाव से ही भगवान् को प्राप्त किया जा सकता है। श्रीकृष्ण का कथन है— “वह परम पुरुष, जिसके अन्दर सभी भूत हैं और जिसने समस्त विश्व का विस्तार किया है, अनन्य भक्ति से ही मिल सकता है।” उन्होंने यह भी कहा कि जो भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करते हैं, उनके हृदय में मैं निवास करता हूँ और वे मेरे हृदय में रहते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह से

विरक्त होकर की गई अनन्य भक्ति से ही अर्जुन को विश्वरूप का दर्शन हुआ था। प्रभु वत्सल हैं।

मोक्ष— गीता में श्रीकृष्ण ने मोक्षप्राप्ति के मार्ग भी बताए हैं। इस सन्दर्भ में मोक्षप्राप्ति के दो मार्ग बताए गए— (१) ज्ञान या कर्मसंन्यास से तथा (२) कर्मयोग या निष्काम कर्मयोग से। इन मार्गों में दूसरा मार्ग ही श्रेष्ठ है। जीवन का परम लक्ष्य है मुक्ति पाना। गीता इस सन्दर्भ में अपने ज्ञान से लोगों का मार्गदर्शन करती है। गीता के अनुसार कर्मयोग के अन्तर्गत सत्कार्यो एवं कल्याणकारी कार्यों पर विशेष बल दिया गया है।

पवित्र कार्यों के पश्चात् ज्ञान और होनोवाली मुक्ति को ‘परागति’ कहा गया है तथा सामान्य रूप से पाप-पुण्ययुक्त कर्म करके प्राणी जब स्वर्ग प्राप्त कर पुनः अवशिष्ट कर्म-वासनाओं का भोग करने के लिए संसार है वापस आता है तो उसे ‘अपरा गति’ कहा जाता है। गीता के अनुसार भिन्न-भिन्न कर्मों के अनुसार जीवात्मा भिन्न-भिन्न लोकों को प्राप्त करता है।

जगत्-सम्बन्धी तत्त्व— जगत्-सम्बन्धी पदार्थों पर विचार करते हुए तीन तत्त्वों पर विचार किया गया है; ये हैं— (१) क्षर (२) अक्षर और (३) पुरुषोत्तम। संसार के सभी जड़-पदार्थ क्षर हैं। क्षर को ही ‘अपरा प्रकृति’, ‘अधिभूत’, ‘क्षेत्र’ और ‘अश्वत्थ’ कहा जाता है। विकारों, कारणों तथा भूतों का यह मूल कारण है। आकाश आदि पाँच भौतिक परमाणु तथा पाँच तन्मात्राएँ ये विकार हैं। मन, अहंकार, बुद्धि, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ ‘करण’ कहलाती हैं। इनसे उत्पन्न राग, द्वेष, सुख, दुःख आदि ‘क्षर’ हैं। आकाश, पृथ्वी, जल, वायु, मन, बुद्धि और अहंकार ये अपरा प्रकृति के रूप हैं। इनका अनादिकाल से भगवान् से सम्बन्ध है। इससे (अपरा प्रकृति से) बन्धन की प्राप्ति होती है। प्रलयकाल में समस्त भूत इसी में

लीन हो जाते हैं। इसी 'प्रकृति' को अधिष्ठान मानकर भगवान् सृष्टि की रचना करते हैं।

'अक्षरतत्त्व' को जीव, परा प्रकृति, अध्यात्मा, पुरुष तथा क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं। यह अपरा प्रकृति से ऊँचे स्तर का है और यही जगत् को धारण करता है।

पुरुषोत्तम प्रधान तत्त्व हैं। इन्हें परमात्मा, ईश्वर, वासुदेव, कृष्ण, साक्षी, महायोगेश्वर, ब्रह्म, विष्णु, परम पुरुष और योगेश्वर आदि नामों से भी जाना गया है। सभी भूतों को उत्पन्न एवं नष्ट करनेवाले ये ही हैं। त्रिगुणमयी 'माया'-शक्ति इनके पास है, जिससे सृष्टि होती है। ये दिव्य दृष्टि से ही दिखाई दे सकते हैं।

अवतार की अवधारणा- श्रीकृष्ण ने गीता (४.७-८) में स्वयं कहा है कि वे धर्म की हानि होने पर अवतरित होते हैं; ताकि साधुजनों की रक्षा हो सके।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

वस्तुतः भगवान् स्रष्टा हैं। साधुओं के रक्षक तथा धर्मपालक हैं। कर्म का उपदेश देते हैं और संसार के कल्याण के लिए मार्गदर्शक भी हैं। ज्ञान तो इनका स्वरूप ही है और ये भक्तों की रक्षा के लिए सदैव तैयार रहते हैं।

वर्णाश्रम-धर्म का पालन- श्रीकृष्ण ने अपने धर्म की बात कही है। अर्जुन क्षत्रिय हैं, अतः क्षात्र धर्म के पालन को कहा है। क्योंकि अपने-अपने धर्म का पालन करना (गीता : ३.३५) श्रेयस्कर है। ऐसा करने से सामाजिक व्यवस्था की रक्षा होती है एवं आध्यात्मिकता का विकास होता है।

गीता का उपदेश अत्यन्त उपयोगी है। श्रीकृष्ण ने कर्म करने को कहा है, लेकिन विश्वबन्धुत्व की भावना को सर्वोपरि मानते हुए लोकसंग्रह, लोकरक्षा को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसी पृष्ठभूमि में इसे विश्वसाहित्य की श्रेष्ठतम धरोहर माना गया है।

यूनिवर्सिटी-प्रोफेसर,
नालन्दा कालेज, बिहार शरीफ



प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकशामूकभावः परेषाम्।
तिष्णास्त्रोतोविभंगो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः॥

सामान्यतः सभी शास्त्रों में निर्विवाद रूप से यही कल्याणकारी मार्ग बताए गए हैं- किसी की हत्या न करना, दूसरे का धन न हरना, सत्य बोलना, यथाशक्ति उचित समय पर दान करना, दूसरे की स्त्रियों के सम्बन्ध में कुचर्चा न करना, लालच के वेग को रोकना, गुरुजन के प्रति विनम्र होना तथा सभी प्राणियों के प्रति दयालु होना।

श्रीविद्योपासना

□ दामोदर दत्त मिश्र 'प्रसून'

श्रीविद्यातन्त्र सभी तन्त्रशास्त्रों की मुकुटमणि है। भगवान् शंकर ने अपनी अर्धांगिनी जगदम्बा पार्वती से चौंसठ तन्त्रशास्त्रों का वर्णन किया, जिनमें अलग-अलग सिद्धियों की प्राप्ति के लिए उपाय बताए गए हैं। उनके माध्यम से ऐहिक स्वार्थों की सिद्धि तो आनन-फानन में हो जाती है, किन्तु पारमार्थिक लाभ कुछ भी नहीं हो सकता। उल्टे उनमें वर्णित साधनाओं के क्रम में अनेक निषिद्ध एवं दारुण कर्मों को करने के चलते साधक को परलोक में ही नहीं, वरन् इस लोक में भी उन कर्मों के कुफल भोगने पड़ते हैं। इसी के चलते देवी पार्वती के आग्रह पर भगवान् शंकर ने एक अन्य तन्त्रशास्त्र की उद्भावना की, जिसे श्रीविद्यातन्त्र कहा जाता है।

इस तन्त्र की प्रमुख उपास्या देवी श्री ललिता अर्थात् महात्रिपुर-सुन्दरी हैं, जिनकी उपासना श्रीयन्त्र में की जाती है। इस उपासना की खूबी यह है कि इससे भोग और मोक्ष दोनों ही साधक की मुट्ठी में चले आते हैं। कहा भी गया है—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षः

यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।

श्रीसुन्दरी-से वन-तत्पराणां

भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव।।

श्रीविद्यातन्त्र की प्रमुख उपास्या श्री ललिता (महात्रिपुर-सुन्दरी) दस महाविद्याओं में एक अन्यतम महाविद्या के रूप में जानी जाती हैं। भगवत्पाद आदि शंकराचार्य-रचित सौन्दर्य-लहरी में इनका ध्यान यों वर्णित है—

ववणत् काञ्चीदामा करिकलभ-कुम्भस्तनता,
परिक्षीणा मध्ये परिणतशरच्चन्द्रवदना।
धनुर्बाणान् पाशं सृणिमपि दधाना करतलैः,
पुरस्तादास्तां नः पुरमथितुराहोपुरुषिका।।

(सौन्दर्यलहरी : ७)

अर्थात् जिनकी कमर में मणिरचित करधनी गुंजायमान हो रही है, हाथों के बच्चे के गाल के समान स्तन के भार से जो थोड़ी-सी झुकी हुई हैं, पतली कमरवाली और पूर्णिमा के चाँद-सा मुखड़ावाली, नीचे के बाएँ हाथ में धनुष (ईख का) तथा दाहिने हाथ में बाण (फूलों का), इसी तरह जिन्होंने ऊपर के बाएँ हाथ में पाश तथा दाहिने में अंकुश धारण कर रखे हैं, ऐसी भगवान् पुरारि (श्रीशंकरजी) की- अर्धांगिनी सदा हमारे समक्ष विद्यमान रहें।

दुर्गासप्तशती के आठवें अध्याय की अधिष्ठात्री भी ये ही हैं, जिनको वहाँ ध्यानश्लोक में अरुणा नाम से अभिहित किया गया है। श्री ललिता का अरुण (लाल) वर्ण का होना शास्त्रसिद्ध है। दुर्गासप्तशती में भी इनके हाथों में वे ही आयुध दिखाए गए हैं, जो सौन्दर्यलहरी में वर्णित हैं। यहाँ इनके शरीर से निकली किरणों में अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व— इन आठों सिद्धियों का भी निरूपण किया गया है। ये अणिमादि आठों सिद्धियाँ श्रीयन्त्र के भूपुर (श्रीयन्त्र का प्रथमा वरण जो तीन समानान्तर रेखाओं से निर्मित चार द्वारोंवाला चतुरस्रक्षेत्र बनता है) की प्रथम रेखा में आठ मोड़ों पर दिखाई जाती

हैं। इसी तरह अन्य कई प्रकार से भगवती पराम्बा श्री ललिता के स्वरूप के साथ श्रीयन्त्र का साम्य वर्णित है, जिससे निष्कर्ष निकलता है कि 'श्रीयन्त्रं शिवयोर्वपुः' अर्थात् यह श्रीयन्त्र भगवती शिवा (श्री ललिता) एवं भगवान् शिव का शरीर है। श्रीविद्या की अधिष्ठात्री देवी को ललिता, त्रिपुरा, अरुणा, त्रिपुर-सुन्दरी, राजराजेश्वरी आदि अनेक नामों से जाना जाता है। इनकी महनीयता के असंख्य प्रमाणों में से एक उल्लेखनीय प्रमाण यह है कि दुर्गासप्तशती-जैसे सर्वोच्च शक्ति ग्रन्थ के कुल तेरह अध्यायों में आठवें, दसवें और तेरहवें- इन तीन अध्यायों की अधिष्ठात्री ये ही हैं।

अपने भक्तों की मनोकामना पूरी करने के लिए वरदमुद्रा और उन्हें निर्भय रखने के लिए अभयमुद्रा प्रायः सभी देवी-देवताओं के हाथों में पाया जाता है, किन्तु माता त्रिपुर-सुन्दरी ही एक ऐसी देवी हैं, जो वरदमुद्रा और अभयमुद्रा का नाटक नहीं दिखातीं। इन दोनों को प्रदान करने के लिए तो इनके दोनों चरण ही पर्याप्त हैं। संक्षेपतः यह कि जो कोई भी इनके चरणों की शरण में गया कि मनचाही कामनाओं की पूर्ति हो गई। यही तथ्य भगवान् आदि शंकराचार्य के शब्दों में:-

त्वदन्यः पाणिभ्यामभयवरदोदैवतगणः

त्वमेका नैवासि प्रकटितवराभीत्यभिनया।

भयात् त्रातुं दातुं फलमपि च वांछा समधिकं

शरण्ये लोकानां तव हि चरणावेव निपुणौ।।

(सौन्दर्यलहरी : ४)

ये परम भक्तवत्सला माँ हैं- भक्त की इच्छा से भी अधिक मनचाही वस्तुएँ देती हैं। उन्हें भक्त का परम कल्याण जो करना है। इसके लिए अधिक-से-अधिक भोग की आपूर्ति भक्त के प्रति इनकी मनःकामना बन जाती है, ताकि जल्दी-से-जल्दी भक्त साधक का मन भोगों से विरक्त हो जाए।

पूरी श्रीविद्या ब्रह्मविद्या है। ब्रह्म-साक्षात्कार, जीवनमुक्ति एवं देवीसारूप्य की प्राप्ति ही इस तन्त्रविद्या का चरम लक्ष्य है, जिसकी ओर मुखतिव होना तब तक सम्भव नहीं, जब तक भोगों से विराग न हो जाए। अतः 'फलमपि च वांछा समधिकम्' प्रदान करने में माँ तनिक भी देर नहीं लगातीं; क्योंकि बता देना है अपने साधक को कि 'देखलो वत्स! इन भोगों की हकीकत क्या है? और जब साधक भोगों की वास्तविकता को पूर्णतः हृदयंगम कर लेता है, तब स्वयं कहने लगता है-

अहं देवी न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।

सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्।।

(स्वामी करपात्रीजी)

जिस जीवन्मुक्ति के लिए एक सन्यासी-सोऽहमस्मि, अहं ब्रह्मास्मि, तत् त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म- जैसे महावाक्यों का निदिध्यासन एवं अष्टांग योग का अभ्यास एक तपस्या की सीमा तक करते-करते जीवन विता देता है, उस जीवन्मुक्ति को श्री ललिताम्बा का साधक (भक्त) अल्प श्रम और अत्यायास से प्राप्त करता है। तभी तो वह माँ की उपासना के आरम्भ में ही कहता है-

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्या-सम्प्रदाय-कर्तृभ्यो वंशर्षिभ्यो नमो गुरुभ्यः। सर्वोपलवरहित-प्रज्ञानघन-प्रत्यगर्थो ब्रह्माहमस्मि, सोऽहमस्मि, ब्रह्माहमस्मि।

अर्थात् ब्रह्मादिक ब्रह्मविद्या-सम्प्रदाय के प्रवर्तक ऋषियों एवं अपने तीन पीढ़ी के गुरुओं को नमन करते हुए मैं देखता हूँ कि सभी प्रपंचों से विलग पूर्णज्ञान-स्वरूप ब्रह्म ही मैं हूँ।'

भोगों से पूर्ण निवृत्ति किन्तु अनन्त, अखण्ड तथा अक्षय सुख (परमानन्द) को ही भारतीय मनीषा ने मानव-जीवन का चरम लक्ष्य माना है। मोक्ष, मुक्ति या निर्वाण-जैसे शब्दों से इसी स्थिति को रेखांकित किया गया है। इस स्थिति को प्राप्त करने

का सबसे सुगम उपाय श्रीविद्योपासना है, जिसका वर्णन श्रीविद्यातन्त्र में आता है। चौंसठ तन्त्रशास्त्रों का विपुल साहित्य भी तो भगवान् शंकर ने ही पार्वती को सुनाया था, किन्तु उन सभी को वेदबाह्य माना; क्योंकि उन सभी में मात्र ऐहिक स्वार्थ-सिद्धि को ही 'इदमित्थं' माना गया है।

इन चौंसठों में महामाया-शम्बरतन्त्र, योगिनी-जालशम्बर तन्त्र, तत्त्व-शम्बरतन्त्र, कुंजिका-तन्त्र, त्रोटल-तन्त्र, त्रोटलोत्तर-तन्त्र, वीणातन्त्र आदि अनेक ऐसे तन्त्रशास्त्र हैं, जिनके सामने- आधुनिक विद्वान् को घुटना टेक देना होगा।

श्रीविद्यातन्त्र के साधक के लिए आचार की पवित्रता अत्यावश्यक है। पूर्वोक्त चौंसठ तन्त्रों के साधकों के लिए ऐसा कोई बन्धन नहीं है। सामान्य-जनसाध्य तन्त्रों की साधना के लिए दी गई आचार की छूट ने ही आगे चलकर पंचमकार-प्रधान वामाचार का रूप ले लिया। ऐसी स्थिति में भारतीय मूल चिन्तन के आधार पर चलनेवालों ने अपने को दक्षिणमार्ग नाम देकर वाममार्गियों से हिरा लिया। किन्तु आगे चलकर- श्रीविद्यातन्त्र की उदात्तता एवं श्रीविद्योपासना की वैज्ञानिकता के कायल होकर वाममार्ग ने भी जब इसे- अपना लिया तब वेदवादियों ने उसे कौलाचार मत की संज्ञा देकर पुनः हिराते हुए अपने को समयाचार मत के अन्तर्गत सुप्रतिष्ठित किया।

विस्तारभय से इन दोनों मतों की- व्याख्या नहीं करते हुए यहाँ यही कहना अभीष्ट है कि विलुप्तप्राय श्रीविद्योपासना को नए सिरे से प्रवर्तित करनेवाले भगवान् आदि शंकराचार्य ने समयाचार को अंगीकृत और आत्मार्पित किया। समयाचार में एक ओर जहाँ पवित्र जीवन की उदात्तता को प्रतिष्ठा मिली तो दूसरी ओर सपर्या या उपासना को भी अधिक- टंट-घंट से बचाया गया। यहाँ हम समयाचार-सम्मत उपासना की एक बानगी लें-

**जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना,
गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणमशनाद्याहुति-विधिः।
प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदृशा
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्।।**

(सौन्दर्यलहरी :२७)

श्रीविद्या का साधक अपनी उपास्या देवी श्री महात्रिपुर-सुन्दरी को सम्बोधित करते हुए निवेदन कर रहा है कि हे परमेश्वरी! मैं जो भी गप-शप करूँ वहीं तुम्हारा जप हो जाए, सामान्य अंग-संचालन ही आठ मुद्राएँ (सर्व-संक्षोभिणी, सर्व-विद्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्ववशंकरी, सर्वोन्मादिनी, सर्वमहांकुशा और सर्वात्रिखण्डा) हो जाएँ। इसी तरह मेरा चलना-फिरना ही तुम्हारी प्रदक्षिणा, विश्राम के लिए लेटना ही साष्टांग प्रणाम तथा भोजन का हर एक ग्रास ही आहुति हो जाए। तात्पर्य यह कि मेरी आत्मर्पण-बुद्धि इस तीव्रता को प्राप्त हो जाए कि मेरे सारे ऐहिक सुख ही तुम्हारी सपर्या (पूजा) के पर्याय बन जाएँ।

यही भावना समयाचार की आत्मा है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इसमें बाह्यपूजा का कोई स्थान नहीं है। श्रीविद्योपासना दो कृत्यों में पूरी होती है, जिसमें पहला अन्तर्याग और दूसरा बहिर्याग कहलाता है। उपर्युक्त भावना-भावित आत्मार्पण अन्तर्याग का चरम उत्कर्ष है, किन्तु इसके पहले सहस्वार में बैठी (भगवान् कामेश्वर शिव के अंक में) भगवती कामेश्वरी ललिता देवी की, विभिन्न मुद्राओं (पाँच मुद्राएँ) को दिखाकर पंचोपचार-पूजन, अथवा चतुःपष्ट्युपचार पूजन (चौंसठ उपचारों द्वारा) या राजोपचार पूजन (जगदम्बा के राजराजेश्वरी होने के चलते) मानसिक तौर पर करना भी अन्तर्याग के अन्तर्गत आता है।

बहिर्याग में मुख्यतः यन्त्रपूजन आता है। श्रीयन्त्र साक्षात् शिव और शिवा (महात्रिपुर-सुन्दरी)

का शरीर माना गया है। भैरवयामल के चन्द्रज्ञान विद्या में कहा गया है—

चतुर्भिःशिवचक्रैश्च शक्तिचक्रैश्च पञ्चभिः।

नवचक्रैश्चसंसिद्धं श्रीचक्रं शिवयोर्वपुः॥

अर्थात् चार शिवचक्रों से तथा पाँच शक्तिचक्रों से बने हुए श्रीयंत्र को शिव और शिवा का स्वरूप ही समझना चाहिए।

इनमें अन्तराल त्रिकोण, अष्टकोण, अन्तर्दशर और बहिर्दशर के साथ ही चतुर्दशर—ये पाँच शक्तिकोण कहलाते हैं। इसी तरह बिन्दु, अष्टदल पद्म, षोडशदल पद्म तथा चतुरस्र चक्र—ये चार शिवचक्र कहलाते हैं।

कौलमतानुसार नीचे की ओर मुखवाले चार त्रिकोण शिव के हैं और ऊपर की ओर मुँहवाले पाँच त्रिकोण शक्ति के हैं इस तरह यह यन्त्र शिव-शक्यात्मक होता है। पूरे ब्रह्माण्ड के सभी उपादानों के प्रतीक श्रीयन्त्र में सन्निहित हैं। इधर 'पिण्ड-ब्रह्माण्डयोरैक्यम्' यानी पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड में ऐक्य होने के कारण श्रीयन्त्र में मानवशरीर के सभी उपादान भी विद्यमान हैं।

जीवन्त मानव-शरीर से साम्य होने के कारण मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा-नामक छह चक्रों का और सबसे ऊपर सहस्रदल कमल के उदर में अवस्थित सातवें चक्र सहस्रार का भी अन्तःपात इसी यन्त्र में हो जाता है।

श्रीविद्यावरिवस्या के अनुसार षोडशदल पद्म (यन्त्र में) का ध्यान मूलाधार में करना चाहिए। मूलाधार चक्र के साथ यन्त्र के षोडशदल पद्म के सभी करण होने के कारण उनका पूजन, मूलाधार में सुषुप्त-अवस्था में पड़ी हुई अनुपम चैतन्य शक्ति-कुण्डलिनी के जागरण की कुंजी बन जाता है। कुण्डलिनी शक्ति, मूलाधार चक्र में है, जो कि

सुषुम्ना नाड़ी के सबसे निचले भाग में चार दल के कमल के रूप में योगियों द्वारा निरूपित है। उस चतुर्दल कमल के मध्य एक त्रिकोण में बैठी उस शक्ति को सर्पिणी का प्रतीक दिया गया है, जो मकड़ी के जाले के एक तन्तु या कमल के नाल के बीच के अनेक तन्तुओं में से किसी एक तन्तु से भी पतली बताई जाती है।

मूलाधार चक्र के चतुर्दल कमल के एक-एक दल पर क्रमशः वं शं षं सं ये चार बीजाक्षर हैं। उसके बीच में एक त्रिकोण है। त्रिकोण के मध्य में भगवान् शिव का स्वयम्भू लिंग या ज्योतिर्लिंग है, जिसके ऊपर साढ़े तीन फेंटा मारे यह कुण्डलिनी अवस्थित है। इसे सोए से जगाना और ऊपर के चक्रों पर क्रमशः चढ़ाते-चढ़ाते सहस्रार में पहुँचा देना योगशास्त्र का चरम लक्ष्य है।

किन्तु इसकी साधना बड़ी कठिन है। इसमें सदैव गुरु का संरक्षण अपरिहार्य है; ऐसा योगशास्त्र बताता है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य तन्त्रशास्त्र-वेत्ता सर जान उडरफ ने भी अपने 'सर्पेण्ट पावर' नामक ग्रन्थ में इसकी चर्चा इसी रूप में की है, किन्तु श्रीविद्योपासना ही एकमात्र ऐसी पद्धति है, जिसके साथ समर्थ गुरु की यदि थोड़ी-सी कृपा उपलब्ध हो गई— मात्र श्रीविद्या की मन्त्रदीक्षा भी मिल गई तो भक्त साधक आनन-फानन में कुण्डलिनी-सिद्धि प्राप्त कर सकता है। यह इसलिए कि श्रीविद्यातन्त्र के अनुसार ललिता देवी और कुण्डलिनी में पूर्णतः अभेद है।

योगशास्त्र में या अन्य तन्त्रग्रन्थों में जिस कुण्डलिनी को मात्र एक सर्पिणी के रूप में वर्णित किया गया है, वही कुण्डलिनी यहाँ पराम्बा और शिवांगना (शिव की अर्धांगिनी) हो जाती है। यह कुण्डलिनी श्रीयन्त्र के द्वितीयावरण अष्टदल कमल,

जिसको सर्वाशा-परिपूरक चक्र भी कहते हैं; में भी ध्यातव्य है। क्योंकि देह और श्रीयन्त्र में अभेद करने पर द्वितीयावरण ही मूलाधार चक्र सिद्ध होता है।

अस्तु, जो कुण्डलिनी योगशास्त्र या अन्य तन्त्रशास्त्रों में मात्र एक शक्ति है, वह भी सर्पिणी-स्वरूपिणी है। वही कुण्डलिनी श्रीविद्यातन्त्र में साधक की माँ बन जाती है। योगशास्त्र उसे अनेक क्रियाओं के बल पर जाग्रत करने का आदेश देता है और साथ ही चेतवनी भी देता है कि होशियारी से आगे बढ़ना- डेग-डेग पर खतरा है, तनिक भी फिसले तो गए काम से।

सुषुप्त कुण्डलिनी का जागरण और षड्चक्रों का भेदन करते हुए साधक का सहस्रार में पहुँचना परम कल्याणकारी, परमानन्ददाता होते हुए भी कष्टसाध्य ही नहीं, बल्कि तनिक भी चूकने पर भारी खतरनाक होगा। इधर श्रीविद्यातन्त्र ने यह सारा टंटा एक झटके में खत्म कर दिया। उसने कुण्डलिनी को श्रीललिताम्बा की स्थानापन्न बना दिया। अब वह भक्त साधक की माँ हो गई। हम उसकी स्तुति करके उसे खुश करेंगे। माँ से खतरा क्या? वह तो पुत्र का सिर्फ कल्याण ही करती है।

उत्तर भारत में श्रीविद्योपासना की प्रतिष्ठापना आधुनिक युग में करनेवाले पूज्यचरण स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज ने अपनी श्रीविद्यावरिवस्या में देह और श्रीयन्त्र में अभेद बताते हुए दोनों में जो समीकरण प्रस्तुत किया है, उसी के क्रम में शरीर के मूलाधार और उसके सहगामी श्रीयन्त्र के षोडशदल पद्म में- प्रसंगतः कुण्डलिनी की चर्चा की गई।

श्रीविद्या के पंचदशाक्षरी मन्त्र (जो श्रीगुरु मुख से ही जानने योग्य है) में तथा श्रीयन्त्र में भी अभेद है। इस पूरे विषय की स्पष्टता के लिए यहाँ एतत् सम्बन्धी एक विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

देहस्थ चक्र	श्रीयन्त्र के चक्र	मन्त्र के साथ साहचर्य
१. मूलाधार के नीचे अकुल सहस्रार तथा विबुवत् चक्र	भूपुर (त्रैलोक्य मोहन चक्र)	पंचदशाक्षरी का प्रथम पाद
२. मूलाधार चक्र (गुदा के ऊपर)	षोडशदल पद्म- (सर्वाशा परिपूरक चक्र)	पंचदशाक्षरी का प्रथम पाद
३. स्वाधिष्ठान चक्र (लिंग मूल में)	अष्टदल कमल ... (सर्व संक्षोभण चक्र)	पंचदशाक्षरी का प्रथम पाद
४. मणिपूर चक्र (नाभि में)	चतुर्दशर चक्र (सर्व सौभाग्य- दायक चक्र)	पंचदशाक्षरी का द्वितीय पाद
५. अनाहत चक्र (हृदय में)	बहिर्दशर चक्र (सर्वार्थ साधक चक्र)	पंचदशाक्षरी का द्वितीय पाद
६. विशुद्धि चक्र (कण्ठ में)	अन्तर्दशर चक्र (सर्वार्थ साधक चक्र)	पंचदशाक्षरी का द्वितीय पाद
७. विशुद्धि के ऊपर (कण्ठ में)	अष्टार चक्र (सर्वरोग हर चक्र)	पंचदशाक्षरी का तृतीया या अन्तिम पाद
८. आज्ञा चक्र ... (भ्रुकुटी में)	अन्तराल त्रिकोण (सर्वसिद्धिप्रद चक्र)	पंचदशाक्षरी का तृतीय या अन्तिम पाद
९. सहस्रार (मस्तक में)	विन्दु या सर्वानन्दमय चक्र	पंच दशाक्षरी का तृतीया या अन्तिम पाद

इधर श्रीगुरुतत्त्व का स्थान जीवन्त मानव-शरीर के आज्ञाचक्र में है तो श्रीयन्त्र के अन्तराल त्रिकोण यानी सर्वसिद्धि-प्रद चक्र के ऊपर भी है। निष्कर्ष यह कि जगज्जननी श्रीललिताम्बा, देहस्थ चक्रों के साथ माँ कुण्डलिनी, श्रीयन्त्र और श्रीविद्या का पंचदशाक्षरी मन्त्र तथा मन्त्रदाता श्रीगुरु-इन पाँचों में पूर्णतः अभेद है। श्रीविद्यातन्त्र की यह अभेद दृष्टि एक ओर जहाँ श्रीविद्यातन्त्र को पूरे तन्त्रसाहित्य में सर्वोत्कृष्ट स्थान दिलाती है, वहीं दूसरी ओर तन्त्रनिर्दिष्ट श्रीविद्योपासना को सभी उपासना-पद्धतियों को पथ-प्रदर्शिका बनाती है।

ललिता-निकेतन,
कोरान सराय (बक्सर),
पिन : ८०२१२६



देहाभिमान का मिट जाना ही मुक्ति है

□ डा० भुलन सिंह

इस दुःख-दर्द भरे लाक्षागृह में विरोचन आग लगाकर भस्म कर दे, इसके पूर्व ही अर्जुन बनकर सुरंग का निर्माण करते हुए बाहर निकल जाएँ।

यहाँ 'सुरंग' से तात्पर्य है, सत्संग के द्वारा 'अन्तर्मुखी वृत्ति'। सुरंग का निर्माण कैसे हो? आड़ू विचार करें। इस जन्म में हम जिस घर में रह रहे हैं, उसे 'देह' कहा गया है। वह निरन्तर जल रहा है। वर्णन भी आया है— 'दुःखालयमशाश्वतम्' (गीता : ८.१५) तथा 'दैहिक दैविक भौतिक ताप' (मानस : ७.२०.१)।

गोस्वामी तुलसीदास ने देह को तवा भी कहा है—
तुसली यह तन है तवा, सदा तपत ताप त्रय।

तो तवा अग्नि पर रखकर रोटी सेंकने के काम में आता है। सन्त कबीर ने यहाँ तक कहा है—
यह तन विष की बेलरी। इसमें विष ही फल लगते हैं। मतलब कि मनुष्य जैविक क्रियाओं के कारण जल रहा है, जन्म, मृत्यु और जरा-सम्बन्धी दुःखों से आक्रान्त होकर संसार में पकाया जा रहा है। महाभारत अनुशासन पर्व के अध्याय १४५ में आया है—

जन्म-मृत्यु-जरा-दुःखे सततं समभिद्रुतः।

संसारे पच्यमानस्तु जनः॥

तो संसार माने क्या? सुख-दुःख का सम्भोग! जिसमें सुख-दुःख का भोग होता है, वही संसार है; जिनका सम्बन्ध देहेन्द्रियों से है। विषय तो प्रत्यक्षतः अग्नि है और विषयी अग्नि के सम्पर्क में आकर रहनेवाले चिमटे के समान हैं। चिमटा तपता है तो लाल हो जाता है, भयावह लगता है—

बुझै न काम अग्नि तुलसी कहूँ,

विषय-भोग बहु घी ते।

(वि० पत्रिका : १६८.४)

तृष्णा का कहीं ओर-छोर नहीं। उसका पेट भरना कठिन है— 'महाशनो' (गीता : ३.३७)। मनुष्य का अच्छा या बुरा होना सब संगति पर निर्भर करता है। जल की बूँद वही है, किन्तु जलते हुए तवे पर पड़ने पर उसका नाम तक नहीं रहता। वही बूँद कमल के पत्ते पर पड़ने से मोती-सरीखी दिखाई देती है, समुद्र की सीप में जब वह गिरती है, तब मोती बन जाती है। यह संग का फल है। सन्त कबीर का सूत्र है कि सन्त का संग चन्द्रमा के अमृत से बहुत ऊँचा है—

नहिं सीतल है चन्द्रमा, हिम नहिं सीतल होय।

कबिरा सीतल सन्त जना नाम सनेही होय।।

तो चन्द्रमा बाहरी तप्तता मिटाता है। सन्त का संग मतलब सत्संग भीतरी। सत्संग में सत्य का अवलम्बन अनिवार्य हैं। सत्य स्वरूप सर्वेश्वर परमात्मा है। उनकी कृपा से ही, विवेकरूपी बल की वृद्धि होती है। तुलसीदास इसीलिए तो उनसे माँगते हैं— 'देहि सतसंग' (वि० पत्रिका : ५७.१) क्योंकि 'तेहि बिनु मोह न भाग' (मानस : ७.६१)। वह सबके हृदय में बैठा है— 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' (गीता : १३.१७)। फिर भी हम दुःखी हैं। क्यों? इसलिए कि ब्रह्मज्ञान का अभाव है। ब्रह्मज्ञान विवेक से ही होता है। जिस प्रकार फूल में गंध, तिल में तेल, लकड़ी में अग्नि, दूध में घी, ईख में गुड़ होता है, उसी प्रकार शरीर में आत्मा है। इसे विवेक-विचार के द्वारा ही जाना जा सकता है—

पुष्पे गन्धं तिले तैलं काष्ठे वह्निः पयोधृतम्।

इक्षौ गुडं तथा देहे पश्यात्मानं विवेकतः॥

(चाणक्यनीति-दर्पण : ७.२१)

सत्संग के बिना विवेक नहीं होता और श्री रामजी की कृपा के बिना वह सत्संग सहज में मिलता नहीं—

बिनु सतसंग बिबेक न होई।

राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।।

(मानस : १.२.४)

मानव शरीर की इतनी बड़ी महिमा आकृति को लेकर नहीं, बल्कि 'विवेक' को लेकर ही है। सत् और असत्; जड़ और चेतन को अलग-अलग समझने का नाम विवेक है। भगवान् कृष्ण ने कहा है— **क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम** (गीता : १३.२)। सत्संग से यह विवेक जाग्रत, चैतन्य और पुष्ट होता है। मस्तिष्क और हृदय के सामंजस्य से विवेक का प्रादुर्भाव होता है। ब्रह्मज्ञान से मतलब है अध्यात्मज्ञान (गीता : १३.११) 'मुक्ति' शब्द का शाब्दिक अर्थ है छूट जाना, किससे छूट जाना? देह (शरीर) और संसार से, तब मुक्ति है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष आप ही ब्रह्मरूप हो जाता है। कहा भी है—

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।

यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।

(गीता : ४.२३)

मोक्ष या मुक्ति ऐसी कोई वस्तु नहीं कि किसी एक स्थान में रखी हो, अथवा यह भी नहीं कि उसकी प्राप्ति के लिए किसी दूसरे गाँव या नगर में जाना पड़े। वास्तव में हृदय की अज्ञानग्रन्थि के नाश हो जाने को ही मोक्ष कहा जाता है—

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव वा।

अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः।।

(शिवगीता : १३.३२)

देहाभिमान का तात्पर्य है अनित्य क्षणभंगुर देह में नित्यता की अपवित्र वस्तु में पवित्रता की, दुःख में सुख की और अनात्मवस्तु में आत्मा की अनुभूति। यही अविद्या है, इसका स्वरूप यही है।

अनित्या शुचिर्दुःखानात्मसु

नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

(पा० यो० द० सादनापाद : ५)

दैत्य देहवादी होते हैं। वे अमरता की कल्पना आत्मा में नहीं, देह में करते हैं। यही कारण था कि रावण ने ब्रह्माजी से यह माँगा—

हम काहू के मरहें न मारें।

बानर मनुज जात दुड़ बारें।।

(मानस : १.१७६.२)

जब वह सोचता है कि हम न मरें, तब उसके मन में यही बात होती है कि हमारा शरीर न मरे। यही देहाभिमान राक्षसी वृत्ति है। कर्ता-भोक्ता का दास बनकर कर्तृत्व-भोक्तृत्व की अग्नि में जलते रहना, भोग की स्पृहा, लिप्सा, राग-द्वेष के वशीभूत होकर अपने को शरीर मान लेना सारे अनर्थों की जड़ है।

जिव जब तें हरि तें बिलगान्यो।

तब तें देह गेह निज जान्यो।।

(वि० पत्रिका : १३६.१)

मैं-मेरा, तू-तेरा यही अविद्या माया है (मानस : ३.१४.१)। पहले 'अहम्' 'अहम्मन्यता' के बीच भेद को समझा जाए। 'मैं हूँ' यह भाव अहम् है। यही हमारे कारण शरीर का एक भाग है और हमारे आत्मरूप व्यक्तित्व का सर्वोच्चस्तर है। इसके ऊपर केवल अनन्तता है। द्रष्टव्य है कि जब यह परिशुद्ध 'मैं' मानसिक, प्रक्रिया के साथ मिल जाता है, तब यही 'मैं यह शरीर हूँ' जो सारे अनर्थों की जड़ बन जाता है और 'यह मोरा है' बन जाता है। इससे 'अहंकार' उत्पन्न होता है, इसमें अहंता- 'मैंपन और ममता-मेरापन' दोनों मिल जाते हैं।

अहंकार का पोषण अविद्या से होता है तथा अविद्या का पर्दा हट जाने से जीव और शिव का ऐक्य हो जाता है। अविद्या माया की नदी पार करने के लिए अहंभाव का भारी बोझ उतार कर फेंक

देना ही होगा, आत्मसुख या आत्मसाक्षात्कार के लिए अन्तर्मुख होना पड़ेगा।

हमारे बीच दो प्रकार के मनुष्य देखे जाते हैं— एक मूढ़ और दूसरा असम्मूढ़। मूढ़ वह है जो मोहग्रस्त है। 'मैं-मेरा' के चक्कर में कोल्हू के बेल-जैसा आँखों पर छोपनी लगाए "पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी-जठरे शयनम्" में पड़ा हुआ है, क्योंकि उसका ज्ञान ढका हुआ है— 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्' (गीता : ५.१५)। यही मोह है। मोह का मतलब है— जान-बूझकर भी वही भूल दुहराने की वृत्ति, बार-बार वही भ्रान्त धारणा बनी रहती है—

आदि अविद्या अटपटी घर-घर बीच अड़ी।

कहो कैसे समझाइये कुएँ भाँग पड़ी।।

दूसरा व्यक्ति असम्मूढ़ है। वह जानता है कि ये सारे नाते झूठे हैं, देह को लेकर हैं। अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं, मिथ्या हैं, स्वार्थ के हैं, बन्धन के हेतु हैं। यह व्यक्ति श्रेष्ठ है और इसको ही अधिकार है भक्ति का। भागवत में आया है कि भक्ति से भक्ति मिलती है—“**भक्त्या सज्जातया भक्त्या**” (११.३.३१)। तथा जो मूढ़ है, वही पशुबुद्धिवाला है—“**पशुबुद्धिमिमां जहि**” (१२.५.२)। वही पाप करता है।

भगवान् श्रीकृष्ण की विरदावली है कि असम्मूढ़ होते ही वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है, (गीता : १८.६६)। बिना भक्ति के ज्ञान नहीं होता; मतलब ज्ञान भक्ति का फल है।

वृन्दावन में यमुना के तट पर देवर्षि नारद ने पूछा—देवि! तुम कौन हो? ये दोनों जर्जर पुरुष तुम्हारे क्या लगते हैं? तब युवती ने कहा कि मेरा नाम भक्ति है, ये ज्ञान और वैराग्य नामक दो मेरे पुत्र हैं और समय के फेर से ही ये ऐसे हो गए हैं—

अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ।

(भागवत-माहात्म्य : १.४५)

भक्त के मन में सभी संकल्प ब्रह्म ही है, **वासुदेवः सर्वम्** (गीता : ७.१६)। जब देहाभिमान मिट जाता है, तब परमात्म-तत्त्व का ज्ञान हो जाता है, तब जहाँ-जहाँ मन जाता है; सर्वत्र समाधि ही है—

देहाभिमानगलिते विज्ञाते परमात्मनि।

यत्र-यत्र मनो याति तत्र-तत्र समाधयः।।

इस परिप्रेक्ष्य में इतिहास-पुराणों में एक तात्त्विक कथा आती है कि एक बार महर्षि वेदव्यासजी मिथिला में राजर्षि जनकजी की ऋषि-महर्षियों, मुनियों-योगियों की सत्संग सभा में प्रवचन कर रहे थे। सभासदों को कुछ आभास ऐसा हुआ कि उनकी तुलना में व्यासजी राजर्षि जनक को विशेष ज्ञान के अधिकारी मान रहे हैं। व्यासजी अपनी अन्तर्दृष्टि से उनके मन की बात समझ गए और गलतफहमी दूर करने के लिए अपनी योगविद्या से एक प्रज्वलित अग्नि प्रकटकर दी। जनकजी का राजमहल, कोष, घुड़साल, हाथीशाला, आदि सब जलने लगा। ऋषि, मुनि, योगी जन सभी अपने-अपने कौपीन, कमण्डलु लेकर अग्नि से बचाव के लिए जाते हुए नजर आए। जनकजी ब्रह्मज्ञानानन्द में इतने निमग्न थे कि उन्हें इस अग्नि की बिलकुल चिन्ता नहीं और इधर व्यासजी ने अपना प्रवचन जारी ही रखा। स्थिति-विशेष को जानकर व्यासजी ने कहा— “जनक! तुम इस अग्नि को बुझाने की व्यवस्था क्यों नहीं करते?” जनकजी ने बड़ा अनोखा तात्त्विक उत्तर दिया— “इस मिथिला नगरी के जलने से मेरा कुछ भी नहीं जला। मेरा वैभव तो सम्पूर्ण, ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, फिर भी मेरा कुछ भी अपना नहीं है। चिन्ता क्यों करूँ? आप अपना प्रवचन जारी रखें—

अनन्तं वत मे वित्तं यस्य वै नास्ति किञ्चन।

मिथिलायां प्रदग्धायां न मे दहति कश्चन।।

इतना सुनते ही व्यासजी ने अपने योगबल से अग्नि को शान्त कर दिया। अन्ततः स्पष्ट दिखाई

पड़ा कि उस अग्नि में कहीं कोई भी वस्तु जली नहीं।

ऋषि-मुनियों को यह ज्ञात हो गया कि राजा जनक किस हद तक योगसिद्ध एवं उपरत हैं। मतलब है कि यह सारा विश्व चित्र का व्यापार है, जिसके मूल में अद्वैत चेतन का प्रकाश है— व्यष्टि और समष्टि दोनों रूपों में। जैसे कि एक ही चन्द्रमा जल में अनेक रूपों में दिखाई देता है, उसी प्रकार चेतन विभक्त-सा भासता है—

जासु सत्यता तें जड़ माया।

भास सत्य इव मोह सहाया।।

(मानस : १.११६.४)

यह अनेकत्व औपाधिक है, पारमार्थिक नहीं।

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।

एकधा बहुधा चैव दृश्यन्ते जल चन्द्रवत्।।

फायदा तभी होगा जब हमारा भटकना मिट जाए। हृदय में यह बात आए, आत्मसात् हो जाए कि मैं चैतन्य आत्मा हूँ। इसे न तो कोई काट सकता है, न जला सकता है, न गला सकता है, (गीता : २.२३-२४)। मैं देह नहीं; मैं मन से, तन से भिन्न हूँ। मन और तन के धर्म मेरे नहीं हैं। परमात्मा! तू मेरा है, मैं तेरा हूँ। यह तभी सम्भव है, जब पूरा-पूरा तत्त्वज्ञान हो, मन पर नियन्त्रण हो, एकाग्रता हो।

सन्त कबीर कहते हैं कि हे दुनियावालो! यह तो सभी जानते हैं कि समुद्र में पड़ी बूँदें उसमें समाहित हो जाती हैं, किन्तु यह विवेकी ही जानता है कि किस प्रकार मन-रूपी समुद्र में विन्दु-रूपी जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है—

बूँद पड़ी जो समुद्र में, ताहि जाने सब कोय।

समुद्र समाना बूँद में, बूँदें बिरला कोय।।

जीवनयात्रा जब भगवत्कृपा-रूपी बुद्धि की देख-रेख में होती है, तब वह निस्सन्देह मंजिल तक पहुँचती है। प्रभुभक्ति के बिना तापत्रय से छुटकारा

नहीं मिलेगा। देहरूपी लाक्षागृह से भाग निकलने का यह सुन्दर सुरंग है। अर्जुन रथी हैं। जीव शरीर-रूपी रथ का सवार है।

कठोपनिषद् में शरीर को रथ की उपमा दी गई है और भगवान् स्वयं सारथि हैं। अर्जुन-रूपी जीव रथी नररथ पर बैठकर जीवन-संग्राम में जूझने के लिए उतारू है और स्वयं नारायण भगवान् श्रीकृष्ण उस रथ को सफलता की मंजिल तक पहुँचाने के लिए सतत प्रयत्नशील हैं। अब, यह समझें कि नर और नारायण भिन्न नहीं हैं, दोनों को एक ही समझें; क्योंकि वे तत्त्वतः एक हैं।

गंगाजल एक बोतल में रख दिया जाए तो क्या क्या गंगाजल नहीं होगा? बोतल की दीवार (पर्दा) हटा दी जाए तो वह जलगंगा की लहरों के साथ मिलकर गंगा का ही नाम धारण करेगा। भेद मात्र अज्ञान के कारण है। जगत् के सभी प्राणियों में एक ही चेतन आत्मा है। छोटे-बड़े, ऊँच-नीच सभी शरीरों में एक ही ब्रह्म का प्रकाश है। तालाब, झरना, कुआँ, जलाशय सब में एक ही जल है, नाम अलग-अलग है। जीव की उपाधि अन्तःकरण है और परमेश्वर की माया। दोनों में एक ही आत्मा है, एक है विभु-आत्मा तो दूसरा है अणु-आत्मा। विहारीलाल ने कहा है—

मोहन मूरत स्याम की अति अद्भुत गति जोड़।

बसत सुचित-अन्तरतड प्रतिबिम्बित जग होड़।।

संसार में जितनी कामनाएँ हैं, मन की उपज हैं। आत्मज्ञान हो जाए, स्वरूप का बोध हो जाए तो देहाभिमान खुद-ब-खुद नष्ट हो जाएगा और जीव मुक्त हो जाएगा।

ग्राम- धरमपुर,

पो०- बिछिआँव,

जिला- भोजपुर

पिन कोड - २०२२०६



ईश्वरगीता: एक अनुशीलन

□ डा० राजेन्द्र झा

जिस प्रकार भगवद्गीता की उत्पत्ति सम्पूर्ण कलाओं के अवतार भगवान् श्रीकृष्ण के मुखाविन्द से विनिःसृत वाणी से हुई है, ठीक उसी प्रकार ईश्वरगीता का प्राकट्य भगवान् शिव के द्वारा प्रदत्त अमूल्योपदेशों से हुआ है। भगवद्गीता के उपदेशों, संवादों एवं कथनों को जहाँ अठारह अध्यायों में उपनिबद्ध किया गया है, वहीं ईश्वरगीता की अमूल्य ज्ञानराशि को मात्र ग्यारह अध्यायों में ही प्रदर्शित किया गया है। वास्तव में ईश्वरगीता अद्भुत उपदेशों का बहुमूल्य आध्यात्मिक संकलन है। भगवद्गीता में आत्मा की अमरता का प्रतिपादन जहाँ उपनिषद्वाक्यों के आलोक में किया गया है, वहीं ईश्वर गीता में उसे अत्यन्त सरल शैली में दर्शाते हुए व्यासजी ने आत्मा के महत्त्व पर भली-भाँति प्रकाश डाला है—

आत्मा यः केवलः स्वस्थः शान्तः सूक्ष्मः सनातनः।

अस्ति सर्वान्तरः साक्षात् चिन्मात्रस्तमसः परः॥

सोऽन्तर्यामी स पुरुषः स प्राणः स महेश्वरः।

स कालोऽग्निः तदव्यक्तं स एवेदमिति श्रुतिः॥

जिस प्रकार महाभारत के सागर से समुद्भूत भगवद्गीता एक देदीप्यमान रत्न है, ठीक उसी प्रकार कूर्मपुराण के उपरिविभाग से समुत्पन्न ईश्वरगीता एक अद्भुत प्रकाशपुंज फैलानेवाली चमकती हुई मणि है।

आत्मा की व्याख्या ईश्वरगीता में अपेक्षाकृत सरल शब्दों में प्रस्तुत करते हुए पुराणकार ने लिखा है कि इसी आत्मा से संसार उत्पन्न होता है और पुनः इसी में विलीन भी हो जाता है। वह माया का नियामक माया से बँधकर अपनी इच्छा से माया को स्वीकार कर अनेक प्रकार के शरीरों को उत्पन्न

करता है। यह प्रभु आत्मा न तो गतिशील है और न गतिप्रेरक है। न यह पृथ्वी है, न जल है, न तेज है, न मन है, न अव्यक्त है, न शब्द है, न स्पर्श है, न रूप है, न रस है और न गन्ध ही है। न अभिमानी है— 'अहम्', इस शब्द का प्रयोक्ता नहीं है, न 'अहम्' यह शब्द ही है। न वाणी ही है।

भगवान् शिव ने ब्रह्मवादी ऋषियों को सम्बोधित करते हुए कहा कि यह आत्मा न हाथ है, न पैर, न पायु (शौचेन्द्रिय) और न उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय) न कर्ता, न भोक्ता तथा प्रकृति-पुरुष भी नहीं है। माया भी नहीं है, प्राण भी नहीं है, अपितु परमार्थतः चैतन्यमात्र है। जिस प्रकार प्रकाश और अन्धकार का कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, उसी प्रकार लौकिक प्रपंच एवं परमात्मा का भी कोई ऐक्य या अभेद्य आदि सम्बन्ध नहीं हो सकते। जिस प्रकार संसार में धूप एवं छाया एक दूसरे से विलक्षण हैं; वैसे ही पुरुष तथा प्रपंच भी तत्त्वतः एक दूसरे से भिन्न हैं। यदि आत्मा स्वभाव से मलिन, अस्वस्थ एवं विकारयुक्त होती तो उसकी मुक्ति सैकड़ों जन्मों में भी नहीं होती। योगयुक्त मुनिजन परमार्थतः अपने विकाररहित, दुःखरहित, आनन्दस्वरूप, अव्यय आत्मा का साक्षात् दर्शन करते हैं—

यथा प्रकाशतमसोः सम्बन्धो नोपपद्यते।

तद्वदैक्यं न सम्बन्धः प्रपञ्चपरमात्मनोः॥

छायातपौ यथा लोके परस्परविलक्षणौ।

तद्वत् प्रपञ्चपुरुषौ विभिन्नौ परमार्थतः॥

यद्यात्मा मलिनोऽस्वस्थो विकारी स्यात् स्वभावतः।

नहि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि॥

पश्यन्ति मुनयो युक्ताः स्वात्मानं परमार्थतः।

विकारहीनं निर्दुःखमानन्दात्मानमव्ययम्॥

(३० वि० : १०-१३)

इस प्रकार भगवान् सदाशिव महेश्वर ने अपने अमृतोपम वचनों से ब्रह्मवेत्ता मुनियों को सन्तुष्ट करते हुए और आगे आत्मा का निर्वचन करते हुए कहा है कि मैं कर्ता हूँ, सुखी, दुःखी, कृश एवं स्थूल हूँ— इस प्रकार की जो बुद्धि है, वह मनुष्यों के द्वारा अहंकार के कारण ही अपनी आत्मा में आरोपित है। वेदज्ञ लोग आत्मा को साक्षी, प्रकृति से परे, भोक्ता, अक्षर, शुद्ध तथा सर्वत्र समरूप से व्याप्त बताते हैं। अतएव यह संसार सभी प्राणियों के अज्ञान का कारण ही है। अज्ञान से अन्यथा (विपरीत) ज्ञान होता है, अर्थात् अज्ञान का नाश ज्ञान से ही होता है और यह प्रकृति-संगत होता है—

**तस्मादज्ञानमूलो हि संसारः सर्वदेहिनाम्।
अज्ञानादन्यथा ज्ञानं तच्च प्रकृतिसंगतम्॥**

(उ० वि० : २.१६)

अहंकार से उत्पन्न अविवेक के कारण स्वयं ज्योतिरूप, नित्य प्रकाशयुक्त, सर्वव्यापी परम पुरुष अपने को 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है। ब्रह्मवादी मुनिजन प्रधान, प्रकृति और कारण को समझकर सत् एवं असत्-स्वरूप, अव्यक्त, नित्य तत्त्व का साक्षात्कार करते हैं। कूटस्थ एवं निरंजन होते हुए भी यह आत्मा उस प्रधान प्रकृति आदि से संगत होकर स्वात्म-स्वरूप अक्षर ब्रह्म का यथार्थ रूप से ज्ञान नहीं कर पाती।

अनात्मतत्त्व में आत्मविषयक विज्ञान से ही दुःख होता है तथा इसी प्रकार के भ्रम के कारण ही राग, द्वेष आदि सभी दोष उत्पन्न होते हैं। भ्रान्त पुरुष के कर्मों में ही दोष होता है। इसी कारण पाप-पुण्य की स्थिति बनती है और उन कर्मों के अनुसार ही सभी प्रकार की देह की उत्पत्ति होती है। यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, कूटस्थ और दोषों से रहित है। यह अद्वितीय आत्मा मायारूप शक्ति के कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है, स्वभावतः इसमें भेद नहीं है—

**नित्यः सर्वत्रगो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः।
एकः स भिद्यते शक्त्या मायया न स्वभावतः॥**

(अ० : २.२२)

**तस्मादद्वैतमेवाहुर्मुनयः परमार्थतः।
भेदो व्यक्तस्वभावेन सा च मायात्मसंश्रया।।
यथा हि धूमसम्पर्काकाशो मलिनो भवेत्।
अन्तःकरणजैर्भावैरात्मा तद्वन्न लिप्यते॥**

(२३.२४)

व्यक्त (महतत्त्व, अहं तत्त्व आदि) के स्वभाव से जो भेद दिखाई पड़ता है और यह भेद मूलतः माया या प्रकृति के कारण ही है तथा यह आत्मा (पुरुष) के आश्रित होकर ही सब कुछ करती है। जैसे धूम के सम्पर्क से आकाश मलिन नहीं होता, वैसे ही अन्तःकरण से उत्पन्न होनेवाले भावों से आत्मा लिप्त नहीं होती। जैसे अद्वितीय शुद्ध स्फटिक अपनी आभा से प्रकाशित होता है, वैसे ही उपाधियों से रहित निर्मल आत्मा अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होती है। जहाँ विद्वान् लोग इस संसार को ज्ञानस्वरूप मानते हैं, वहीं दूसरे कुत्सित दृष्टि रखनेवाले मूर्ख लोग इसे अर्थस्वरूप या विषय-स्वरूप मानते हैं—

ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद् विचक्षणाः।

अर्थस्वरूपमेवाज्ञाः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः॥

(२.२६)

इसी तरह अपने कथन को और अधिक स्पष्ट करते हुए पौराणिक लेखक ने भ्रान्त दृष्टि रखनेवालों की आलोचना इन शब्दों में की है—

कूटस्थो निर्गुणो व्यापी चैतन्यात्मा स्वभावतः।

दृश्यते ह्यर्थरूपेण पुरुषैर्भ्रान्तदृष्टिभिः॥

यथा संलक्ष्यते रक्तः केवलः स्फटिको जनैः।

रक्तिकाद्युपधानेन तद्वत् परमपूरुषः॥

तस्मादात्माक्षरः शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽव्ययः।

उपासितव्यो मन्तव्यः श्रोतव्यश्च मुमुक्षुभिः॥

यदा मनसि चैतन्यं भाति सर्वत्रगं सदा।

योगिनोऽव्यवधानेन तदा सम्पद्यते स्वयम्॥

(अ० : २.२७-३०)

योगी के मन में जब सर्वत्र व्याप्त रहनेवाला चैतन्य सदा प्रकाशित होता है, तब वह योगी बिना किसी व्यवधान के आत्मभाव को प्राप्त कर लेता है। योगी जब सभी प्राणियों को अपनी आत्मा में अच्छी प्रकार स्थित देख लेता है एवं सभी प्राणियों में अपने को स्थित देखता है, तब उसे ब्रह्मभाव की प्राप्ति हो जाती है। जब योगी समाधि की दशा में किसी भी प्राणी को अपने से भिन्न नहीं देखता, तब वह उस परम तत्त्व से एकात्मभाव प्राप्त कर लेता है एवं अद्वितीय हो जाता है। उसके दिल से उत्पन्न होनेवाली सारी इच्छाएँ जब समाप्त हो जाती हैं, तब वह पण्डित अमृतस्वरूप होकर परम शिवत्व को प्राप्त कर लेता है। इतना ही नहीं, योगी जब प्राणियों के पार्थक्य को एक तत्त्व में स्थित देखता है और उसी तत्त्व से उनका विस्तार होना समझता है, तब उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है—

यदा पश्यति चात्मानं केवलं परमार्थतः।

मायामात्रं जगत् कृत्स्नं तदा भवति निर्वृतः।।

(२.३५)

आगे विषय को अधिक सुगम बनाते हुए व्यासजी ने लिखा है कि जब योगी को जन्म, जरा, दुःख और सभी व्याधियों के एकमात्र औषध अद्वितीय ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है, तब वह शिवस्वरूप हो जाता है। जिस प्रकार संसार में नद एवं नदियाँ सागर के साथ एकरूपता को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार यह जीवात्मा निष्कल अक्षर ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त करता है—

तस्माद् विज्ञानमेवास्ति न प्रपञ्चो न संसृतिः।

अज्ञानेनावृतो लोकः विज्ञानं तेन मुह्यति।।

(२.३८)

व्यासजी ने ऐसी स्थिति में, विज्ञान की स्थिति को अंगीकार करते हुए लिखा है कि प्रपंच और संसरणशील संसार का अस्तित्व नहीं है। विज्ञान अज्ञान से आवृत रहता है, इसी से संसारी जीव मोह में पड़ता है। ज्ञान निर्मल, सूक्ष्म, निर्विकल्पक और अव्यय है, अज्ञान के अतिरिक्त जो कुछ है, वह विज्ञान है— ऐसा व्यासजी का मत है।

भगवान् शिव ने सांख्य नामक पुरुषोत्तमज्ञान का विवरण ऋषियों को सुनाते हुए कहा कि यह सम्पूर्ण वेदान्त का सार है। इसमें चित्त की एकाग्रता ही योग है—

सर्ववेदान्तसारं हि योगस्तत्रैकचित्तता।

योग से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान से योग प्रवर्तित होता है। योग तथा ज्ञानसम्पन्न पुरुष के लिए कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रह जाता। योगी जिसे प्राप्त करते हैं, सांख्यवेत्ताओं के द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। भगवद्गीता के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए पुराणकार का कथन है कि जो सांख्य और योग को एक ही समझता है, वह तत्त्वज्ञानी होता है—

एकं सांख्यञ्च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित्।

भूतभावन भगवान् शिव ने मुनियों को समझाते हुए निष्कर्ष के रूप में यह कहा कि जो सर्वव्यापी, दिव्य ऐश्वर्यरूप, अचल और महत् सर्वश्रेष्ठ है, उसे ज्ञान एवं योगसम्पन्न पुरुष देहान्त होने पर प्राप्त करते हैं। सम्पूर्ण वेदों में सर्वात्मा, सर्वतोमुख के रूप में प्रतिपादित, अव्यक्त, मायावी तथा परमेश्वर-स्वरूप मैं ही यह आत्मा हूँ—

एष आत्माहमव्यक्तो मायावी परमेश्वरः।

कीर्तितः सर्ववेदेषु सर्वात्मा सर्वतोमुखः।।

(२.४५)

जिसप्रकार भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अपने ऐश्वर्य और विभूतियों का बखान कर अर्जुन को सुनाया, ठीक उसी प्रकार भगवान् त्रिलोचन महादेव ने भी अपने पूर्णतत्त्व का निरूपण करते हुए कहा कि मैं अन्तर्यामी, सनातन, सर्वकाम, सर्वरस, सर्वगन्ध, अजर, अमर और सभी ओर हाथ पैरवाला हूँ। हाथ और पैर के बिना भी मैं गति करने और ग्रहण करनेवाला हूँ। सभी प्राणियों के हृदय में मैं स्थित हूँ। बिना नेत्रों के भी देखता हूँ और बिना कानों के भी सुनता हूँ। मेरी अहेतुकी कृपा से ही तत्त्वदर्शी एवं सूक्ष्मदर्शी ऋषि लोग सायुज्य मोक्ष

प्राप्त कर हमेशा-हमेशा के लिए जन्म और मृत्यु के बन्धन से भी मुक्त हो जाते हैं—

**न तेषां पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि ।
प्रसादन्मम योगीन्द्राः एतद्वेदानुशासनम् ॥**

(अ० : २.५४)

इसी प्रकार जहाँ ईश्वरगीता के प्रथम अध्याय में विषय का उपक्रम किया गया है, वहीं दूसरे अध्याय में आत्मा का निरूपण सरल से सरलतर शब्दों में किया गया है। तीसरे अध्याय में अव्यक्त शिवतत्त्व से सृष्टि का कथन, परमात्मा के स्वरूप का वर्णन तथा प्रधान, पुरुष एवं महदादि तत्त्वों से सृष्टिक्रम का वर्णन तथा शिवस्वरूप का निरूपण अत्यन्त रोचक शैली में प्रस्तुत किया गया है।

अव्यक्त की व्याख्या करते हुए देवाधिदेव शंकर ने कहा कि अव्यक्त तत्त्व से काल, प्रधान तथा परमपुरुष उत्पन्न हुए। उन कालादि से यह सम्पूर्ण संसार उत्पन्न हुआ; अतः यह संसार ब्रह्ममय है, जिसके हाथ और पैर का प्रसार सर्वत्र है, जिसके नेत्र, मस्तक, मुख और कर्ण सर्वत्र वर्तमान हैं और जो सम्पूर्ण विश्व को आवृत कर स्थित है, वही ब्रह्म है—

**अव्यक्तादभवत् कालः प्राधानं पुरुषः परः ।
तेभ्यः सर्वमिदं जातं तस्माद् ब्रह्ममयं जगत् ॥
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥**

(३.१-२)

इस प्रकार वह ब्रह्म सभी इन्द्रियों के गुणों के आभासवाला है, अर्थात् सभी इन्द्रियों के गुण उसमें प्रतीत होते हैं; किन्तु वह सभी इन्द्रियों से रहित है। वह सभी का आधार है, सदा आनन्द-स्वरूप, अव्यक्त और द्वैत से रहित अद्वैत तत्त्व है। वह निरुपमेय, इन्द्रियों द्वारा प्रमाणों से ज्ञात न होने योग्य, निर्विकल्प, निराभास, सभी का आश्रय, परम अमृतस्वरूप, अभिन्न, भिन्न रूप से स्थित, शाश्वत, श्रुत, अव्यय, निर्गुण और परम व्योमरूप है। वह सभी प्राणियों की आत्मा है, वह बाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त रहनेवाला परमतत्त्व है। मैं

भी वहीं सर्वव्यापी, ज्ञान्त, ज्ञानात्मा परमेश्वर हूँ। मेरे द्वारा ही इस संसार का विस्तार हुआ है। सभी प्राणी मुझमें ही अवस्थित हैं। संक्षेप में, प्रधान और पुरुष— ये दो ही तत्त्व कहे गए हैं। अनादि उत्कृष्ट काल को ही उन दोनों का परम संयोजक बताया गया है। प्रधान, पुरुष और काल ये तीनों तत्त्व अनादि, अन्तरहित, अव्यक्त (परमतत्त्व) में स्थित हैं—

**प्रधानं पुरुषं चैव तत्त्वद्वयमुदाहृतम् ।
तयोरनादिरुद्दिष्टः कालः संयोजकः परः ॥
त्रयमेतदनाद्यन्तमव्यक्ते समवस्थितम् ।
तदात्मकं तदन्यत् स्यात् तद्रूपं मामकं विदुः ॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते यः प्राकृतान् गुणान् ।
अहंकार-विमुक्तत्वात् प्रोच्यते पञ्चविंशकः ॥**

(३.८-६+११)

प्रस्तुत सन्दर्भ का विस्तार करते हुए कृष्ण-द्वैपायन वेदव्यास ने चौथे अध्याय में जहाँ शिवभक्ति का माहात्म्य, शिवोपासना की सुगमता, ज्ञानरूप शिवस्वरूप का वर्णन, शिव के तीन प्रकार की शक्तियों का प्रतिपादन और शिव के परम तत्त्व का निरूपण सुभग शैली में प्रस्तुत किया है, वहीं पंचम अध्याय में ऋषियों को दिव्य नृत्य करते हुए भगवान् शिव का आकाश में दर्शन एवं मुनियों द्वारा महेश्वर की भावपूर्ण स्तुति का मनोहर चित्रण भी प्रस्तुत किया है।

भगवान् शिव को भक्ति बहुत प्यारी है। बिना उत्तम भक्ति के मनुष्य उन्हें कभी नहीं प्राप्त कर सकता। भक्ति से उपासना करने पर भगवान् शंकर शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं और वे अपने भक्तों का संकट पलक झपकते ही दूर कर देते हैं। भक्त उन्हें बहुत प्रिय हैं। भक्तों की प्रार्थना सुनकर वे दौड़ पड़ते हैं। उनके श्रीमुख से निकले हुए ये अमृतोपम वचन पठनीय और मननीय हैं—

**मां पश्यन्तीह विद्वांसो धार्मिका वेदवादिनः ।
तेषां संनिहितो नित्यं ये भक्त्या मामुपासते ॥
न मद्भक्ता विनश्यन्ति मद्भक्ता वीतकल्मषाः ।
आदावेतत् प्रतिज्ञातं न मे भक्तः प्रणश्यति ॥**

यो वै निन्दति तं मूढो देवदेवं स निन्दति।
योहि तं पूजयेद् भक्त्या स पूजयति मां सदा।।
पत्रं पुष्पं फलं तोयं मदाराधनकारणात्।
यो मे ददाति नियतः स मे भक्तः प्रियो मतः।।

(अ० : ४.६+११-१४)

बड़े ही सुन्दर शब्दों में भगवान् शिव की स्तुति मुनियों के द्वारा प्रथम अध्याय में ही की गई है। भगवान् महादेव की जय हो—

जयेश्वर महादेव जय भूतपते शिव।
जयाशेष मुनीशान तपसाभिप्रपूजित।।
सहस्रमूर्ते विश्वात्मन् जगद्यन्त्रप्रवर्तक।
जयानन्त जगज्जन्मत्राण-संहारकारण।।
सहस्रचरणेशान शम्भो योगीन्द्रवन्दित।
जयाम्बिकापते देव नमस्ते परमेश्वर।।

(अ० : १.३३-३५)

ऋषियों की स्तुति से सन्तुष्ट होकर भगवान् चन्द्रमौलि शंकर ने अपने दिव्यस्वरूप का दर्शन प्रदान कर उन्हें अनुगृहीत किया। इसी प्रकार पंचम अध्याय में भी वर्णित शिव की स्तुति काफी हृदयावर्जक तथा पठनीय है—

योगेश्वरं रुद्रमनन्तशक्तिं
परायणं ब्रह्मतनुं पवित्रम्।
नमाम सर्वे शरणार्थिनस्त्वं
प्रसीद भूताधिपते महेश।।

(५-३६)

प्रस्तुत शृंखला को आगे बढ़ाते हुए पौराणिक वेदव्यास ने छठे अध्याय में जहाँ भगवान् शिव द्वारा ऋषिगणों को अपना सर्वव्यापी स्वरूप बताना तथा अपनी भगवत्ता का और इस ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति का निराकरण करना-जैसे विषयों पर प्रकाश डाला है, वहीं सातवें अध्याय में शिव द्वारा अपनी विभूतियों का वर्णन तथा प्रकृति, महत् आदि चौबीस तत्त्वों, तीन गुणों एवं पशु, पाश और पशुपति आदि का सविस्तर वर्णन किया गया है।

इस प्रकार आठवें अध्याय में महेश्वर का अद्वितीय परमेश्वर के रूप में निरूपण,

सांख्यसिद्धान्त से तत्त्वों का सृष्टिक्रम, महेश्वर के छह अंग और महेश्वर के स्वरूप के ज्ञान से परमपद की प्राप्ति का विवेचन किया गया है।

नवम अध्याय में महादेव के विश्वरूप का वर्णन तथा ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान का प्रतिपादन बड़े ही मनोहर शब्दों में किया गया है। दशम अध्याय में ईश्वर द्वारा परम तत्त्व तथा परम ज्ञान के स्वरूप का निरूपण और उसकी प्राप्ति के साधन का वर्णन सरल शब्दों में किया गया है। इसी प्रकार अन्तिम एकादश अध्याय में योग की महिमा, अष्टांगयोग, यम, नियम आदि योगसाधनों का लक्षण, प्राणायाम का विशेष प्रतिपादन, ध्यान के विविध प्रकार, पाशुपतयोग का वर्णन, वाराणसी में प्राणत्याग की महिमा, शिवाराधन की विधि, शिव और विष्णु के अभेदत्व का प्रतिपादन, शिवज्ञान-योग की परम्परा का वर्णन, ईश्वरगीता की फलश्रुति तथा उपसंहार-जैसे विषयों को उपनिबद्ध किया गया है।

छठे अध्याय में ऋषियों को अपना दिव्यस्वरूप दिखाते हुए भगवान् शंकर कहते हैं कि मैं सनातन 'सर्वात्मा' सभी लोकों का एकमात्र निर्माण करनेवाला, सभी लोकों का एक अद्वितीय रक्षक और सभी लोकों का एकमात्र संहार करनेवाला हूँ। सभी वस्तुओं का अन्तर्यामी पिता मैं ही हूँ। मध्य तथा अन्त सब कुछ मुझमें स्थित है; किन्तु मैं सर्वत्र स्थित नहीं हूँ—

सर्वलोकैकनिर्माता सर्वलोकैकरक्षिता।
सर्वलोकैकसंहर्ता सर्वात्माहं सनातनः।।
सर्वेषामेव वस्तूनामन्तर्यामी पिता ह्यहम्।
मध्ये चान्तः स्थितं सर्वं नाहं सर्वत्र संस्थितः।।

(अः ६.२-४)

अपनी विभूतियों का वर्णन जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता के दशम अध्याय में किया है, ठीक उसी प्रकार से भगवान् शिव ने भी सप्तम अध्याय में अपनी दिव्य विभूतियों का वर्णन करते हुए ऋषियों को बताया कि मैं ब्रह्मज्ञानियों में सर्वतोमुख स्वयम्भू ब्रह्मा हूँ। मायावियों में मैं अव्यय

पुराणदेव हरि हूँ। योगियों में शम्भु और नारियों में हिमालयपुत्री पार्वती हूँ। मैं द्वादश आदित्यों में विष्णु तथा अष्ट वसुओं में पावक हूँ। मैं रुद्रों में शंकर, उड़नेवाले पक्षियों में गरुड, गजेन्द्रों में ऐरावत और शस्त्रधारियों में परशुराम हूँ। ऋषियों में वसिष्ठ, देवताओं में इन्द्र, शिल्पियों में विश्वकर्मा और सुरद्वेषी राक्षसों में प्रह्लाद हूँ। मैं मुनियों में व्यास, गणों में विनायक, वीरों में वीरभद्र और सिद्धों में कपिलमुनि हूँ। मैं पर्वतों में सुमेरु, नक्षत्रों में चन्द्रमा, प्रहार करनेवाले शस्त्रों में वज्र और व्रतों में सत्यव्रत हूँ। मैं सर्पों में अनन्तदेव, सेनानियों में कार्तिकेय, आश्रमों में गृहस्थाश्रम और ईश्वरों में महेश्वर हूँ। इस तरह बत्तीस श्लोकों के द्वारा भगवान् शिव के ऐश्वर्य का अद्भुत वर्णन किया गया है—

चतुर्विंशति तत्त्वानि माया कर्म गुणा इति।

एते पाशाः पशुपतेः क्लेशाश्च पशुबन्धताः ॥

मनोबुद्धिरहंकारः खानिलाग्निजलानि भूः।

एताः प्रकृतयस्त्वष्ट्री विकाराश्च तथापरे ॥

इसी प्रकार अग्रिम अध्याय में भी महेश्वर ने अपनी परमेश्वरता का प्रतिपादन करते हुए कहा कि मैं ब्रह्ममय, ज्ञान, शाश्वत, निर्मल, अव्यय, एकाकी, अद्वितीय, परमेश्वर तथा भगवान् कहलाता हूँ। महद्ब्रह्म मेरी योनिरूप है, मैं उसमें मूल माया नामक गर्भधारण करता हूँ और उससे यह संसार उत्पन्न करता हूँ। उसी से प्रधान, पुरुष, आत्मा, महत्त्व, भूतादि (तामस अहंकार), तन्मात्राएँ, पंचमहाभूत तथा इन्द्रियों उत्पन्न हुईं। उसके बाद करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान हिरण्मय अण्ड उत्पन्न हुआ। उस अण्ड में मेरी शक्ति से विकसित महाब्रह्मा उत्पन्न हुए। अन्य भी जो बहुत से प्राणी हैं, वे सभी मेरे ही स्वरूप हैं। मेरी माया से मोहित होने के कारण वे पितामह-स्वरूप को नहीं देख पाते—

ईशानः सर्वविद्यानां भूतानां परमेश्वरः।

ओङ्कारमूर्तिर्भगवानहं ब्रह्मा प्रजापतिः ॥

(८.६)

भगवद्गीता में जिस प्रकार ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिवेणीधारा प्रवाहित होकर भगवान् के विराट् रूप में विलीन हो जाती है, उसी प्रकार ईश्वरगीता में भी ज्ञान, कर्म और योगरूपी अग्नि के महत्त्व का वर्णन किया गया है। उपनिषद् की ज्ञानधारा यहाँ भी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रही है। कठोपनिषद् में जिसे अग्निविद्या के नाम से बताया गया है, उसे ही ज्ञान की साधना मानकर पल्लवित किया गया है। सांख्य का ज्ञान और योग का बल सबसे श्रेष्ठ माना गया है। ये एक दूसरे के पूरक भी हैं। दोनों के मिलने से ही यह सृष्टि गतिशील होती है। गीता में जिसे ज्ञानाग्नि कहा गया है, उसे ही ईश्वरगीता में योगाग्नि बताया गया है—

योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम्।

प्रसन्नं जायते ज्ञानं साक्षात् निर्वाण-सिद्धिदम्।।

योगात् संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्तते।

योगज्ञानाभियुक्तस्य प्रसीदति महेश्वरः ॥

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा।

ये युञ्जन्तीह मद्योगं ते विज्ञेया महेश्वराः ॥

(११.२-४)

आचार्य पतंजलि ने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' सूत्र के द्वारा ही पाँच प्रकार की चित्तवृत्तियों के निरोध का उपाय बताया गया है। गीता ने भी इसका समर्थन किया है— "अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते।" ईश्वर गीता में योग का विप्लेषण अत्यन्त सरल शब्दों में प्रस्तुत कर सर्वग्राह्य-सा बना दिया गया है। अन्त में, पराशरपुत्र कृष्णार्पायन वेदव्यास को हम सादर प्राणाम करते हैं, जिनकी अमर कालजयी रचना युगों-युगों तक भारतवर्ष में आध्यात्मिक ज्ञान के प्रकाश को फैलाती रहेगी—

तस्मै व्यासाय गुरवे सर्वज्ञाय महर्षये।

पाराशर्याय शान्ताय नमो नारायणात्मने ॥

अध्यक्ष संस्कृत विभाग,

गोपेश्वर महाविद्यालय, हथुआ,

जिला : गोपालगंज (बिहार)



या देवी सर्वभूतेषु मातृ-रूपेण संस्थिता

□ डा एस० एन० पी० सिन्हा

ममतामयी माँ शारदा के प्रति स्वयं भगवान् श्री रामकृष्ण परमहंस ने कहा था— “वे मेरी शक्ति हैं।” श्रीकृष्ण की शक्ति थी— राधा; यह पुराण-सम्मत है। यथा— ‘राधाकृष्णात्मिका नित्यं कृष्णः राधात्मको ध्रुवम्।’ अर्थात् राधा की नित्य आत्मा श्रीकृष्ण हैं और श्रीकृष्ण की राधा हैं (ब्रह्माण्ड पुराण)।

अध्यात्म रामायण में सीतातत्व की विवेचना इस प्रकार है— ‘एको विभासि राम त्वं मायया बहुरूपया’ तथा “योगमायापि सीतेति” अर्थात् एकमात्र सत्य वस्तु श्रीराम ही बहुरूपिणी माया को स्वीकार कर विश्वरूप में भासित हो रहे हैं और सीता ही वह योगमाया हैं। और श्री माँ ने स्वयं ही कहा था— “श्री ठाकुर का प्राणिमात्र के प्रति मातृभाव था। उसी मातृभाव को जगत् में प्रकाशित करने के लिए वे मुझे छोड़ गए हैं।”

प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुराणों में सतीत्व तथा नारीशक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है। भगवान् श्रीराम के साथ श्रीसीता, श्रीकृष्ण के साथ श्रीराधा, सत्यवान् के साथ सावित्री एवं औपनिषदिक वाङ्मय में ब्रह्मवादिनी नारियों के उदात्त चरित्र के उदाहरण, ईसाई और बौद्ध साहित्य में सन्यासिनियों की महत् गाथाएँ सर्वत्र परिलक्षित हैं, किन्तु मानवजाति के इतिहास में मातृत्व का उदाहरण श्री माँ शारदा देवी के जीवन में सर्वाधिक विलक्षणरूप में परिलक्षित है।

दक्षिणेश्वर के अपने कमरे की छोटी चौकी पर बैठे थे श्री रामकृष्ण। श्री माँ ने पूछा— “मैं तुम्हारी कौन हूँ?” उनका उत्तर था— “तुम मेरी

आनन्दमयी माँ हो, जो मन्दिर में हैं; वही।” श्री माँ षोडशी की पूजा कर मातृत्व की सुप्रतिष्ठा की थी रामकृष्ण ने। श्री माँ मातृशक्ति-स्वरूप बनी रहीं— पूजित रहीं, विश्व की माँ हो गई।

यह सत्य है कि समस्त वसुन्धरा में उनके समान ‘मां’ शब्द से सम्बोधित की जानेवाली कोई भी माता नहीं। उनके सरल, पवित्र, करुण और समर्पणशील जीवन में भारतीय वैदिक संस्कृति में प्रतिष्ठित परिपूर्ण नारी-आदर्श के दर्शन होते हैं।

माँ शारदा के जीवन में मानवीय और दैवी भाव का अद्भुत समन्वय था। आध्यात्मिक शक्ति के अतिरिक्त उनके मानवीय गुण इतने प्रभावशाली थे कि संसार की आँखों में उन्हें अनुकरणीय चरित्र बनाने के पर्याप्त भारतीय नारीत्व की विलक्षण-पूर्णता उनमें थी। उनका अद्भुत वात्सल्य-प्रेम जाति-सम्प्रदाय अथवा भौगोलिक सीमा से परे था। उनकी मातृशक्ति की सर्वव्यापकता को जातिभेद की लघुता-गुरुता संकुचित करने में समर्थ नहीं रही। मातृस्नेह की गोद में स्वामी शारदानन्द और अमजद, पादपद्मों में नरेन; यही दृश्य मातृरूपा श्री रामकृष्ण की शक्ति की विलक्षणता को उद्घोषित करता है।

वे भगवान् श्री रामकृष्ण की सहधर्मिणी तथा ‘भारतीय नारियों के आदर्श’ वाचक मानो अन्तिम शब्द थीं। स्वामी विवेकानन्द ने उनके प्रति अपना श्रद्धा-सुमन यों अर्पित किया था— “माँ क्या चीज है, अब तक तुमलोग समझ नहीं सके हो, कोई भी नहीं समझ सका है। धीरे-धीरे समझोगे। भाई! शक्ति के बिना जगत् का उद्धार न होगा। हमारा देश सबसे पिछड़ा और शक्तिहीन क्यों है? इसलिए

कि यहाँ शक्ति का तिरस्कार होता है। भारत में उसी महाशक्ति को जगाने के लिए माँ का आविर्भाव हुआ है। उन्हीं को केन्द्र बनाकर संसार में फिर गार्गी, मैत्रेयी आदि का जन्म होगा। मेरे लिए श्री माँ की कृपा पिता की कृपा से लाखों गुना मूल्यवान् है। अमेरिका जाने से पहले मैंने माँ से आशीर्वाद माँगते हुए एक पत्र लिखा था। उनका आशीर्वाद मिला और मैं छिप करके सागर पार हो गया। रामकृष्ण परमहंस ईश्वर थे या मनुष्य, चाहे जो कह लो, पर भाई! जिसकी माँ के प्रति भक्ति नहीं उसे धिक्कार है।”

स्वामी विवेकानन्द गुरुभाइयों से कहा करते थे- “श्री माँ दुर्गा हैं।” वे अपने पत्रों में लगातार श्री माँ के दिव्य स्वरूप का वर्णन करते थकते नहीं थे। स्वामी शारदानन्द की अमर दिव्य अनुभूति थी- “यथाम्नेर्दाहिका शक्ती रामकृष्णस्थिता हि सा। सर्वविद्या स्वरूपां तां शारदां प्रणमाम्यहम्।।” ब्रह्मज्ञानी स्वामी विज्ञानानन्दजी के उद्गार थे- “ठाकुर चैतन्य-स्वरूप हैं और माँ चिन्ता-स्वरूपिणी, सर्वशक्तिमया।” वेदान्ती स्वामी तुरीयानन्दजी ने श्रद्धा-सुमन यों अर्पित किए थे-

..... कैसी महाशक्तिमयी जगत्-कल्याण के लिए है। विचारणीय है कि हमलोग जिस शक्ति से कण्ठ देश में उत्थित करने का सतत प्रयास करते हैं, उसी मन को वे राघू-राघू कहकर उतार रही हैं वहाँ। जय माँ महाशक्ति!”

अपने अलौकिक मातृस्नेह से माँ शारदा धनवान्, ऐश्वर्यवान्, विद्वज्जन, दीन-हीन दुखिया, कुटियावासी, भ्रष्ट-पतित, सती-पुण्यवती, साधु-सन्त, पापी-तेजस्वी से लेकर अवतार-श्रेष्ठ श्री रामकृष्ण को धारण किया। भगवान् श्री रामकृष्ण का अनुभव था कि भवतारिणी एवं माँ शारदा में अभेद है। माँ शारदा की मातृत्वशक्ति और श्री

रामकृष्ण की आध्यात्मिक चिन्तन-साधना की शक्ति वैसी ही थी, जैसे देवी और शिव की है। शिव शक्ति से युक्त होकर ही ब्रह्मा, विष्णु और शंकर निर्माण, पालन और संहार कार्य में समर्थ होते हैं- “शिवः शाक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभावितुम्...।” शिव भी शक्ति के बिना शव-सदृश हो जाते हैं; निश्चेष्ट हो जाते हैं।

‘श्रीविद्या आत्मशक्ति है। यही परमात्मशक्ति है। चराचर में चैतन्य, धृति, कीर्ति, बुद्धि, श्रद्धा, मेधा, दया, लज्जा, क्षुधा, तृष्णा, कान्ति, करुणा, वाक्, शक्तिः, माता, निद्रा आदि शक्तियाँ ‘श्री महाविद्या’ के साधन के फलस्वरूप ही प्राप्त होती हैं। जड़-चेतन सभी के अन्दर व्यक्त या अव्यक्त भाव से ऊर्जाशक्ति विद्यमान है (सत्यमेव जगन्मूर्तिस्तस्या सर्वाभिदं ततम्)।

श्री दुर्गासप्तशती में नारायणी-स्तुति में इसका विश्लेषण इस प्रकार है-

विद्या समस्तास्तवदेवि भेदाः

स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु।

त्वयैकया पूरितमम्बयैतत्

का ते स्तुतिः स्तव्यपरापोक्तिः।।

(दुर्गासप्तशती : ११.६)

अर्थात् हे देवी! समस्त संसार की सब विद्याएँ तुम्हीं से निकलती हैं और सब स्त्रियाँ तुम्हारा स्वरूप हैं। समस्त विश्व तुमसे पूरित है। अतः तुम्हारी स्तुति किस प्रकार की जाए?

आगे सप्तशती में इसका उत्तर है-

‘सर्वस्य बुद्धिरूपेण जनस्य हृदि संस्थिते।’

अर्थात् हे देवी! तुम बुद्धिरूप से सब के हृदय में स्थित हो; वस्तुतः सबके हृदय में विराजमान हो। अतएव सबको हृदयस्थ शक्ति-आत्मशक्ति की उपासना करनी चाहिए। ...या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण...शक्तिरूपेण संस्थिताः..। सारी

शक्तियाँ मानव-तन की आत्मा में केन्द्रीभूत हैं। आत्मशक्ति को जाग्रत कर ही परम शक्ति को प्राप्त किया जा सकता है। शक्ति का मूल आत्मोन्नति ही है।

भगवान् रामकृष्ण की 'आत्मशक्ति', 'माँ शारदा' थीं—

अहं राष्ट्री संगमनी वसुनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूमिस्थानां भूम्यविशयन्तीम्॥

(ऋग्वेदीय देवी सूक्त : ३)

अर्थात् मातृशक्ति के रूप में। श्री माँ शारदा ने भी 'देवीसूक्त' की भाषा में माँ आद्याशक्ति के अनुरूप ही कार्य किया था; जैसा कि उन्होंने कहा है— मैं ही समस्त जगत् की अधीश्वरी, उपासकों की धन देनेवाली देवी व परब्रह्म हूँ। अतः यज्ञों में मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ। प्रपंचरूप में मैं ही नाना भावों में अवस्थित एवं सर्वभूतों में जीवरूप में प्रविष्ट हूँ, सुर, नर, मुनि आदि विविध भाँति मेरी ही आराधना करते हैं।

जगत् में जितनी शक्तियाँ हैं उनकी समाविष्ट स्वरूपिणी वही हैं और शक्ति की सभी अभिव्यक्तियाँ माँ ही हैं। वह ब्रह्म ही माँ है— प्राणरूपिणी, बुद्धिरूपिणी, प्रेमरूपिणी, करुणारूपिणी... माँ। परमात्मा में समस्त कार्य करने की जो सामर्थ्य है, वही शक्ति है...अणु-परमाणु से लेकर चर-अचर-पृथ्वी के सभी प्राणवान् शक्ति, ऊर्जा से संचालित होते हैं। 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' में उल्लेख है—'जगन्माता च प्रकृतिः पुरुषश्च जगत्पिता।' अर्थात् जगज्जननी प्रकृति है। जगत् का पिता पुरुष है।

प्रकृति की सर्वत्र प्रधानता है। शक्ति के कारण ही ईश्वर का ईश्वरत्व है। शक्ति और ब्रह्म का एकत्व है। सृष्टि की उत्पत्ति होने पर महामाया 'माँ' के समान प्राणियों का पालन करती हैं। सृष्टि की अवस्था में बुद्धि, श्री, कीर्ति, स्मृति, श्रद्धा,

मेधा, लज्जा, सुधा, तृष्णा, क्षमा, कान्ति, शान्ति, निद्रा, तन्द्रा, जरा, अजरा, विद्या, अविद्या, स्मृता, शक्ति और अशक्तिरूप में सबमें स्थित रहती हैं; संचालित करती हैं।

श्री माँ भगवान् श्री रामकृष्ण के हृदय में मातृरूपेण प्रविष्ट हैं। उनकी आराधना में वस्तुतः माँ शारदा की आराधना है— 'माँ', अत्यन्त साधारण दिनचर्या के माध्यम से जगन्माता के सार्वभौमिक मातृभाव को सुस्पष्ट कर गईं। परमहंसजी की भी विलक्षण शक्ति-मायाशक्ति-आद्याशक्ति त्रिगुणात्मिका शक्ति मातृरूपेण है। उनकी आध्यात्मिक शक्ति-साधना, त्याग, तपस्या, तितिक्षा, करुणा, दया, सबकी पराकाष्ठा के रूप में उनमें मातृरूप में वे स्थित हैं। भगवान् श्री रामकृष्ण परमहंस के सर्व-धर्म साधना-समन्वय और आध्यात्मिकता की स्थापना में श्री माँ ने मातृशक्ति के सर्वोत्कृष्ट एवं सर्वोच्च रूप को प्रतिष्ठित किया। श्री माँ के दाम्पत्य जीवन में परस्पर प्रगाढ़ प्रेम (राधाभाव से) और गहन श्रद्धा-भक्ति एवं परस्पर सेवाभाव (सीताभाव से) सभी अतुलनीय एवं अभूतपूर्व हैं।

'द गोसपेल आफ द होली मदर श्री शारदा देवी' नामक पुस्तक में माँ के स्वरूप-दर्शन को यों व्यक्त किया गया है— (Sri Ram Krishna Math-madras-प्रकाशन) "It is said that the great master left the Holy mother on earth to demonstrate the motherhood of God. If one prefers one can understand it in a theological sense. But It will be evident that if universal love is the nature of god, then that trait is amply exhibited by the Holy mother in her remarkable life on earth. Her spiritual ministry too exemplifies this. Just as a mother's

affection for an offspring is never inhibited by any weakness he may have. So the mother to accept all devotees who went to her for protection, irrespective of their merits. All were alike in the infinitude of her love their comparative status in the moral and spiritual scales being obliterated in the very immensity of it.” (Introduction page xxxvii para 1)

..... “In her the world found in unique figure in its history, who combined in herself the roles of a perfect wife, nun, mother and teacher at the same time. In the endless procession of the members of the human species on this planet of ours, the Holy mother stands out as a unique example whose utter innocence could melt even the hardest of hearts, who never looked at the fault of others whose love never made any distinction between the deserving and the undeserving, in whose eyes the saint and the sinner were alike her precious children, whose wide heart held all humanity in its maternal embrace, and who considered it a privilege to labour and to suffer for even the least of them. If we cannot see here the face of the all loving universal mother, of the God the redeemer, where else can we? Only we should have the sensitiveness to recognise that the subtle potency of love transcends the obstrusive display of power.” (Introduction page xxxix, para II).....

..... “I do not have the language to give expression to the Holy mother's boundless affection, infinite compassion and

limitless kindness. We are all blessed by seeing her lotus feet, touching them, and receiving her grace, our families have been made holy and our mothers have been blessed. Hundreds of devotees have been turned into gold by this touch stone.” (Page 235, Para III).

श्री माँ की अमृतवाणी कुछ यों है- “जिसमें दया नहीं, वह भी क्या मनुष्य है? कामना ही समस्त दुःखों का मूल है, वह जन्म-मृत्यु का कारण है और मुक्तिपथ का बाधक है। ... जो उनपर (भगवान् श्री रामकृष्ण पर) निर्भर हैं, उन्हें वे सभी विपत्तियों से रक्षा करते हैं। ... प्रेम ही आध्यात्मिक जीवन का सार है... बेटो! शान्ति चाहते हो तो किसी के दोष मत देखना। दोष देखना हो तो अपना देखना। प्यार करो, घृणा नहीं। ठाकुर ने कहा था- ‘जीव सेवा शिव सेवा’, दुःखी जन की सेवा करो। जो ईश्वर के लिए सब कुछ त्याग देता है, वही शरीरधारी ईश्वर है। सदाचरण व्यवहार में उतारना चाहिए। यही परम धर्म है।”

ये थे उनके निर्मल हृदय के निर्मल उद्गार। उनके ये अमृतवचन मानो विश्व के सारे सद्ग्रन्थों के सार हों। आचरण में उतारने और जीवन में अपनाने से हमें ये ‘तमसो मा ज्योतिर्गमय’ के पथ पर ले जाएँगे। ऐसी ममतामयी श्री माँ को शतशः नमन, कोटिशः प्रणाम-

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः।।

बी०-६२, पी०सी० कालोनी,
लोहियानगर, पटना-८०० ०२०



मृत्यु की अवधारणा

□ आचार्य सारंगधर

संस्कृत के 'मृ' धातु के साथ 'त्युक्' प्रत्यय के योग से मृत्यु शब्द निष्पन्न होता है। प्राणान्त, शरीरान्त, मरण, मौत प्रभृति इसके पर्याय हैं। यह सत्य, नित्य, सनातन और अटल है। भारतीय संस्कृति में यत्र-तत्र मृत्यु का बड़ा ही सुन्दर, मोहक एवं मधुर चित्रण हुआ है। मृत्यु की भीषणता भारतीय संस्कृति में नहीं है।

अनेक महापुरुषों ने मृत्यु की नित्यता पर भिन्न-भिन्न प्रकार से अपना-अपना विचार व्यक्त किया है। जिसका आना हुआ है, उसका जाना भी निश्चित है— “आया है सो जाएगा राजा रंक फकीर” इस धराधाम का यही नियम है, यही विधान है—

धरा का प्रमाण यही तुलसी।

जो फरा सो झरा जो बरा सो बुताना।।

जिस प्रकार नदियाँ अपने सम्पूर्ण वेग से सागर के प्रति दौड़ती हैं और अन्ततः उसी में समा जाती हैं, उसी प्रकार प्राणी मृत्यु के मुख में प्रविष्ट हो जाते हैं। पंचभूत शरीर के पंच तत्त्वों में विलीन हो जाना ही मृत्यु है।

पंचतन्त्र के अनुसार मृत्यु गर्भावस्था में ही निर्धारित होती है और सोते-जगते, चलते-फिरते सदैव छाया की भाँति साथ लगी रहती है; चिर संगिनी है।

शिशु का जन्म होता है। माता-पिता उसके बढ़ने की प्रतीक्षा करते हैं। उसके शरीर का विकास होता है, किन्तु वस्तुतः वह मृत्यु के समीप बढ़ता जाता है। उसकी निर्धारित आयु प्रतिक्षण घटती जाती है और एक दिन वह मृत्यु के द्वार पर खड़ा

हो जाता है। बच्चे के जन्म पर लोग प्रसन्न होते हैं, थाली पीटकर अपनी प्रसन्नता प्रदर्शित करते हैं और मृत्यु पर शोक प्रकट करते हैं, आँसू बहाते हैं। किन्तु ठीक इसके विपरीत दार्शनिक किसी के जन्म पर प्रसन्न नहीं होता, उदासी प्रकट करता है और मृत्यु पर सन्तोष व्यक्त करता है।

जातक के जन्म के समय वह यह सोचकर दुःखी होता है कि न जाने अपने जीवनकाल में इसे किन-किन कष्टों को झेलना पड़ेगा और मृत्यु के पश्चात् इसलिए प्रसन्न होता है, सन्तोष की साँस लेता है कि अब इसके सारे कष्ट दूर हो गए; यह मुक्त हो गया।

जन्म और मृत्यु का चक्र सदा चलता रहता है— जातस्य हि ध्रुवोमृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च। मृत्यु जीवनवृक्ष का एक मधुर फल है। जीवन और मृत्यु दोनों परम मंगल हैं। ये वस्तुतः एक ही हैं। जीवनरूपी वृक्ष में मृत्युफल लगता है और मृत्युरूपी वृक्ष में जीवनफल। मृत्यु ईश्वर का ही रूप है। भगवान् ने गीता में मृत्यु को अपना ही रूप माना है— मृत्युः सर्वहरश्चाहम्।

सृष्टिलीला के सुचारु रूप से चलते रहने में सर्ग और संहार दोनों की महती आवश्यकता है और ये दोनों ही कार्य लीलामय प्रभु किया करते हैं। अतएव उन्होंने अपने को अमृत और मृत्यु दोनों का स्वरूप स्वीकार किया है— अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन। (गीता)

मृत्यु का अर्थ है वस्त्र बदलना— वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

काम करते-करते जब वस्त्र जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, फट जाता है तब वह त्रिभुवन-धात्री, ममतामयी जननी नया वस्त्र देने के लिए हमें अपनी स्नेहपूरित गोद में उठा लेती है, नए वस्त्राभूषणों में सुसज्जित कर विश्व-क्रीड़ाभूषण पर मंचन के लिए पुनः भेज देती है और दूर से हमें देखकर आह्लादित होती है। कभी-कभी मृत्यु जन्म के निकट अर्थात् अत्यायु में ही हो जाती है। ऐसा क्यों? ऐसा इसलिए कि कभी-कभी जननी को वह वस्त्र नहीं भाता। इसलिए वह अपने प्राणप्रिय लाडले को शीघ्र ही बुला लेती है और नए वस्त्रों में सजाकर विश्वक्रीडा-प्रांगण में पुनः भेज देती है। करुणामयी माँ कभी निष्करुण नहीं हो सकती।

जाग्रति की स्मृतियाँ सुषुप्ति में विस्मृत हो जाती हैं। निद्रा अर्थात् लघु मरण और मृत्यु अर्थात् महानिद्रा। 'प्रसाद' जी ने मृत्यु को चिरनिद्रा कहा है—

मृत्यु अरी चिरनिद्रे! तेरा अंक हिमानी-सा शीतल।

दिनभर उछल-कूद करने के पश्चात् हम थककर सो जाते हैं। प्रतिदिन हम सोते हैं, यह महानिद्रा आठों पहर की होती है।

मृत्यु यानी मेले से घर आना। व्यापारी मेले में जाता है, अनेक प्रकार की वस्तुओं का क्रय-विक्रय करता है और घर लौटकर लाभ-हानि की गणना करता है। घर आने में शुभ मुहूर्त देखने-दिखाने की भी आवश्यकता नहीं। सभी दिन शुभ हैं। मृत्यु अर्थात् ममतामयी जननी से मिलने जाना। जन्म के समय हम जननी से दूर आए थे और अब मृत्यु के समय जननी से मिलने जा रहे हैं। अतः जन्म के समय हम रोए थे; किन्तु लोग हँसते थे; अब मृत्यु के समय हम हँसेंगे और हमारी मीठी याद करके लोग रोएँगे।

हमने जीवन कैसा व्यतीत किया, इसकी परीक्षा यानी मृत्यु। मरते समय जो रोता है, उसका

जीवन असफल और जो हँसता है, उसका जीवन सफल माना जाता है। अनेक महापुरुषों ने अपनी मृत्यु अपनी आँखों से देखी और उसे अद्भुत पाया। जिसने जीते जी मरना सीखा, वह अमर हो गया। लोकमान्य तिलक मरते समय “**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत**” का उद्घोष कर रहे थे। पण्डित मदन मोहन मालवीय गायत्रीमन्त्र जप रहे थे, मोतीलाल नेहरू ॐ का उच्चारण कर रहे थे और गेटे ने मरते समय विशेष प्रकाश, विशेष प्रकाश (मोर लाइट, मोर लाइट) कहा था।

जीवन में कदाचित् ऐसा भी अवसर आता है, जब मृत्यु जीवन से अधिक प्यारी लगने लगती है। व्यक्ति किसी असाध्य रोग का शिकार हो जाता है। व्रणित शरीर में कीड़े पड़ जाते हैं। वैद्य उसकी नाड़ी पर से उँगली हटाकर मुँह फेर लेता है। **औषधि: जाह्नवी-तोयं वैद्यो नारायणो हरिः** की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। पुत्र, पौत्र, पत्नी सभी दूर-दूर दिखाई देते हैं। बन्धु-बान्धव उस मार्ग से चलना बन्द कर देते हैं। अर्थात् पीड़ा से छटपटाते उस व्यक्ति से जब सभी मुँह मोड़ लेते हैं, तब उस करुणामयी माँ से अपने पुत्र की पीड़ा सही नहीं जाती। वह आती है और अपने लाडले को अपनी आनन्ददायिनी गोद में समेट लेती है तथा सभी कष्टों से मुक्त कर देती है।

कभी-कभी मनुष्य कुसंगति के कारण चोरी, डकैती, हत्या, अपहरण प्रभृति अनेक दुर्व्यसनों का आदी हो जाता है। बाद में उसे पश्चात्ताप होता है और वह सन्मार्ग पर चलने लगता है। किन्तु जन-सामान्य को उसके इस परिवर्तित आचरण पर विश्वास नहीं होता। लोग कहते हैं— अरे यह आदमी! हम खूब समझते हैं; बड़ा ढोंगी है। गाय की खाल ओढ़े शेर है। वह अपने पूर्वार्जित कुकृत्यों को भुलाकर सात्त्विक जीवन जीना चाहता है, लेकिन

लोग उसे भूलना नहीं चाहते। ऐसी स्थिति में उसपर तब तक कोई विश्वास नहीं करता, जब तक कि वह नेपथ्य की आड़ होकर विश्व-रंगमंच पर नए वस्त्राभूषण धारण कर उपस्थित नहीं होता। कचरे में पड़े हुए लौहखण्ड का मूल्य तब बढ़ जाता है, जब वह कारखाने की भट्टी में पिघलकर नए-नए रूपों में लोगों के सामने उपस्थित होता है।

मृत्यु संसार को रमणीय बनाती है। यदि यह न होती तो संसार भयानक हो जाता। मृत्यु के कारण ही संसार में प्रेम है। मृत्यु ही मनुष्य को पाप-कर्मों से बचाती है। कल यहाँ से जाना पड़ेगा और रिक्तहस्त ही जाना पड़ेगा, अतः बुरा काम करने से क्या लाभ? इसी अवधारणा से मनुष्य अपने चरित्र को पावन और अनुकरणीय बनाकर रखता है।

शरीर साध्य नहीं, साधन है। यही किसी महान् साध्य की सिद्धि के लिए प्राप्त हुआ है। अतः परोपकार के लिए ज्ञानी पुरुष को अपना जीवन भी उत्सर्ग कर देना चाहिए—

धनानि जीवितं चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्।

सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति।।

शरीर अनित्य है और मल-मूत्र का वाहक है। इसका उद्देश्य निर्मल यश प्राप्त करना होना चाहिए—

यदि नित्यमनित्येन निर्मलं मलवाहिना।

यशःकायेन लभ्येत तन्न लब्धं भवेत्तु किम्।।

यहाँ इस जिज्ञासा का होना स्वाभाविक है कि जिस मृत्यु में इतनी पावनता और मांगलिकता है, उस मृत्यु पर बन्धु-बान्धव, सगे-सम्बन्धी इतना करुणक्रन्दन क्यों करते हैं, रोते-चिल्लाते क्यों हैं? मुझे लगता है कि कोई किसी मृतक के लिए नहीं रोता। इस रुदन के मुख्यतः दो कारण हैं। पहला कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने सगे-सम्बन्धियों के साथ ममत्व के बन्धन से जुड़ा रहता है। उस बन्धन-विच्छेद से उसे पीड़ा होती है। दूसरा कारण है कि व्यक्ति को अपने सम्बन्धियों से स्वार्थ की सिद्धि होती है या होने की आशा रहती है। अब वैसा कुछ नहीं हो सकेगा; इसलिए रोता है।

निष्कर्षतः यही कहा जा सकता है कि जो अवश्यम्भावी है; निश्चित, अटल, सत्य और सनातन है, उस मृत्यु पर शोक करना भारतीय विभापुत्रों को शोभा नहीं देता।

पिरारी, सारण,
(बिहार)



अव्याहृतं व्याहृताच्छेय आहुः, सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम्।

प्रियं वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं धर्मं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम्।।

बोलने से न बोलना अच्छा कहा गया है, किन्तु सत्य बोलना वाणी की दूसरी विशेषता है अर्थात् न बोलने की अपेक्षा सत्य बोलना और अच्छा है। सत्य बोलें, पर वह सत्य प्रिय हो तो त्रिगुण उत्तम है और यदि धर्मसम्मत वाणी का प्रयोग करें तो चतुर्गुण उत्तम है।

वनस्पतियों से मानवकल्याण

□ डा० रामविलास चौधरी

‘वृक्षो रक्षति रक्षितः।’

अनादि काल से प्रकृति के साथ मानव का अविनाभाव सम्बन्ध रहा है। सृष्टिक्रम पर विचार करते हुए ऋषियों ने कहा है कि आत्मतत्त्व (परमात्मा) से पहले-पहल आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। पृथ्वी से नाना प्रकार की ओषधियाँ-अनाज के पौधे उत्पन्न हुए। और उन ओषधियों से अन्न और अन्न से मनुष्य, शरीररूप पुरुष उत्पन्न हुआ—

‘एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः।’

(तैत्तिरीयोपनिषद् : २.१)

उन ऋषियों ने समस्त प्रकृति में चेतन आत्मा की सत्ता मानी थी। आकाश, सूर्य, चन्द्र, दिन, रात आदि प्रकृति के नाना व्यापारों और तत्त्वों में विद्यमान चामत्कारिक शक्ति से वे प्रभावित और मोहित थे। उन पदार्थों के प्रति उनकी महती निष्ठा थी। इसके कारण उन पदार्थों में उनकी धार्मिक भावना हुई तथा उनमें उन ऋषियों ने देवत्व का आरोप किया। कहा भी है—

इष्टं धर्मं नियोजयेत्।

अर्थात् जो हमारे लिए अभिलषित या सम्मानित हो, उसे धर्म के रूप में स्वीकार करें। इसी के परिणाम-स्वरूप स्वास्थ्य के लिए एक या दो दिन उपवास को अनुकूल जानकर एकादशी एवं चतुर्दशी व्रत को धार्मिक भावना से जोड़ दिया गया। अध्ययन, दान, सत्य, धैर्य आदि को भी

धर्म मानना इसी भावना का परिणाम है; क्योंकि धर्मभावना मन में आते ही उस वस्तु या कार्य के प्रति सहज ही लगाव एवं झुकाव होने लगता है।

चूँकि दया, दान, उपकार, धैर्य आदि मानव-मात्र के लिए वांछनीय हैं। अतः हिन्दू, मुसलिम, ईसाई आदि सभी वर्गों एवं सम्प्रदायों में इन्हें धर्म के रूप में स्वीकार किया गया है; धार्मिक कृत्यों के रूप में इन्हें मानने पर सभी सम्प्रदायों में इनकी ग्राह्यता सहज हो जाती है। धर्म न केवल भारतीय परम्परा में, अपितु सभी प्राचीन एवं पारम्परिक समाज में किसी-न-किसी रूप में स्वीकार्य होता ही है।

अपने को कट्टर आधुनिक माननेवाले धर्म के नाम पर नाक-भौंह सिकोड़ने और धर्म के प्रति आस्थावान् व्यक्ति को सम्प्रदायवादी कहनेवालों के परिवारों में भी विवाह तथा मृत्यु के अवसर पर धार्मिक कार्य अनिवार्य रूप से सम्पादित होते हैं। अतः भारतीय संस्कृति को धर्मप्राण संस्कृति कहा जाता है।

इसी तरह के चिन्तन में प्रवृत्त भारतीय ऋषियों ने मानवीय जीवन के लिए प्रकृति के संरक्षण को आवश्यक माना है। इसके लिए वे वनस्पतियों को देवता मानकर उनकी पूजा एवं स्तुति करने लगे। वनस्पति का अर्थ है वनों में उत्पन्न होनेवाली ओषधियों के स्वामी या पालक। ऋग्वेद में प्रथम मण्डल में ही वनस्पति को देवता के रूप में सम्बोधित करते हुए ऋषि उन्हें अन्य देवों के लिए हविष् और यजमान को चेतना या दिव्य ज्ञान प्रदान करने के लिए प्रार्थना करते हैं—

“अवसृज वनस्पते देव देवेभ्यो हविः प्रदातुरस्तु चेतनम्।”
(ऋग्वेद : १.१३.११)

अपनी लौकिक एवं पारलौकिक कामनाओं की सिद्धि के लिए ऋषि यज्ञों का आयोजन करते थे। उन यज्ञों में सोमलता, यूप तथा समिधा आदि के रूप में वनस्पतियों का प्रयोग होता था। ये यज्ञ के अनिवार्य अंग थे। इन यज्ञों के द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जाता था। अतः ये लता एवं वृक्ष देवरूप में मान्य थे।

वैदिक काल के बाद पौराणिक युग में भी वृक्षों को देवरूप माना जाता था। उन वृक्षों के बीच कल्पवृक्ष की कल्पना ऋषियों ने की, जिससे सकल कामनाओं की सिद्धि की मान्यता उनमें व्याप्त थी। उनके अनुसार यह कल्पवृक्ष स्वर्ग में होता है, जिसके द्वारा देवगण सभी सुख-ऐश्वर्य का भोग प्राप्त करते हैं।

लोक में प्राप्त होनेवाले वृक्षों में अश्वत्थ वृक्ष को बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। गीता के दसवें अध्याय में भगवान् कृष्ण स्वयं कहते हैं—

‘अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्।’

अर्थात् मैं सभी वृक्षों में अश्वत्थ वृक्ष हूँ। इस कथन से इस वृक्ष की महत्ता प्रकट होती है। वहीं पन्द्रहवें अध्याय में इस संसार को ऐसा अश्वत्थ वृक्ष बताया गया है, जिसकी जड़ ऊपर की ओर है तथा तने और डाल नीचे की ओर हैं। इसके पत्ते वेद हैं। संसार के रूप में फैले इस पेड़ को जो ठीक-ठीक जानता है वहीं वेद का सम्यक् ज्ञाता है—

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।

छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

(गीता : १५.१)

यह मायामय अश्वत्थ गतिशील संसार का बोधक है। अश्वत्थ पीपल को कहते हैं। इसके बोधिवृक्ष, गुहापुष्प, चलयज्ञ, चलदल आदि अनेक नाम हैं। अश्वत्थ साक्षात् विष्णुरूप है। इसके दर्शन एवं स्पर्श से पापों का नाश होता है। इसे प्रणाम

करने से आयु के साथ सम्पदाओं की भी वृद्धि होती है। पद्मपुराण में अश्वत्थ वृक्ष का सेवन या सेचन वैशाख मास में अधिक फलदायी बताया गया है—

वैशाखे सेचयेन्नित्यं विष्णुमश्वत्थरूपिणम्।

चतुर्वर्गफलावासिर्हेतवे वैष्णवो जनः॥

अश्वत्थद्रुममालोक्य प्रणामं कुरुते तु यः।

आयुर्वृद्धिः भवेत्तस्य वर्द्धन्ते सर्वसम्पदः॥

पितृकर्म श्राद्ध आदि में पीपल का विशेष महत्त्व बताया गया है। अतः जलाशय के समीप पीपल को रोपने का निर्देश पद्मपुराण में दिया गया है तथा उसे अधिक फलदायी कहा गया है—

अश्वत्थरोपणं कृत्वा जलाशयसमीपतः।

यत्फलं लभते मर्त्यो न तत्कृतुशतैरपि।

पतन्ति यानि पत्राणि जले पर्वणि पर्वणि।

तानि पिण्डसमानीतं पितृणामक्षयं ययुः॥

वराहपुराण (१७३.३६-३७) के अनुसार जैसे एक अच्छा पुत्र समस्त परिजनों का भरण-पोषण करता है तथा संकट में उनकी रक्षा करता है, उसी प्रकार एक पुष्पित एवं फलयुक्त वृक्ष स्वामी को नरक में गिरने से बचाता है। ये वृक्ष हजारों जीवों को उपकृत करते हैं। बगीचे के वृक्षों के फल आरोग्य और सम्पन्नता प्रदान करते हैं। पद्मपुराण में कहा गया है—

आश्रिताः विहगाः कीटाः पतगाः शलभादयः।

छात्राश्रिताश्च ये सत्त्वाः तत्संख्याताः पृथग्जनाः॥

इस तरह वृक्ष अपने फल तथा छाया से भी सभी जीवों के लिए सुखदायी होते हैं। महान् पुरुष की सेवा करने का निर्देश अन्योक्ति के माध्यम से देते हुए किसी चिन्तक ने कहा है—

सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छाया समन्वितः।

दैवाद् यदि फलं नास्ति छाया केन निवार्यते॥

तात्पर्य है कि महान् वृक्ष से यदि संयोगवश फल नहीं भी मिले तो छाया को भला कौन रोक सकता है। महान् पुरुष भी किसी-न-किसी रूप में उपकारी होते हैं।

मध्यकालीन कवियों ने भी वृक्ष को परमार्थी व्यक्ति के रूप में वर्णित किया है—

वृक्ष कबहुँ नहिं फल भखै नदी न संचै नीर।

परमारथ के कारने साधुन्ह धरा शरीर।।

प्राचीन ऋषियों का वनस्पतियों के साथ बड़ा निकट का सम्बन्ध था। उन्होंने उन वृक्षों की खूबियों को समीप से देखा था तथा उनकी विशेषताओं का स्वतः अनुभव किया था। अतः विभिन्न प्रकार के वृक्षों के विशिष्ट गुणों का भी उल्लेख किया गया है। उनके अनुसार चन्दन और कटहल पुण्य के साथ-साथ लक्ष्मी भी प्रदान करते हैं। चम्पक सौभाग्यकारक है। ताड़ का वृक्ष सन्तति-नाशक और मौलसिरी वृक्ष कुल को बढ़ानेवाला होता है। नारियल पत्नीप्रद और अंगूर सर्वांग सुन्दरी को प्राप्त करानेवाला है। बेर का वृक्ष रतिदायी और केतकी (केवड़ा) शत्रुनाशक है। इसी तरह दूसरे पेड़ भी विशिष्ट गुणों से युक्त होते हैं। जो लोग पेड़ रोपते हैं, उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त होती है—

पुण्यप्रदः श्रीपदश्च चन्दनः पनसस्तथा।

सौभाग्यदश्चम्पकस्तु करीरः पारदारिकः।।

अपत्यनाशकस्तालो बकुलः कुलवर्द्धनः।

बहुभार्या नारिकेला द्राक्षा सर्वांगसुन्दरी।।

रतिप्रदा तथा कोली केतकी शत्रुनाशिनी।

एवमादिनगाश्चान्ये येनोक्तास्तेऽपि दायकाः।

प्रतिष्ठां ते गमिष्यन्ति यैस्तु वृक्षाः प्ररोपिताः।।

(पद्मपुराण : १.२८.३०-३३)

अनेक वृक्षों में विभिन्न देवताओं का निवास बताते हुए वे कहते हैं कि बेल के वृक्ष में शंकर वास करते हैं, जबकि लाल लोध्र के पेड़ में पार्वती बसती हैं। शीशम में अप्सराओं का तथा चमेली में गन्धर्वों का निवास है—

श्रीवृक्षे शंकरो देवः पाटलायां तु पार्वती।

शिशपायामप्सरसः कुन्दे गन्धर्वसत्तमाः।।

वृक्षों की सेवा महान् फल देनेवाली है। अतः उन्हें देवरूप कहा गया है। उन वृक्षों में जल उसी भावना से डालना चाहिए, जिस भावना से पितरों का तर्पण करते हैं। वे वृक्ष जन्म-जन्मान्तर में पुत्र बनकर जन्म लेते हैं—

ये च वृक्षाः महासत्त्वाः सर्वे ते देवरूपिणः।

तदर्थं पितृवत्कार्यां शुश्रूषा जल-पिण्डवत्।

मर्त्यलोके च ते पुत्राः तस्य जन्मनि जन्मनि।।

मत्स्यपुराण के अनुसार एक पुत्र दस जलाशयों के समान तथा एक वृक्ष दस पुत्रों के बराबर होता है—

दश हृदसमः पुत्रो दशपुत्रसमो द्रुमः।

वृक्षों की विशिष्ट महत्ता एवं उनमें देवत्व होने के कारण ही वृक्षों के रोपण के समय बड़े विधि-विधान से उनकी पूजा करके गीत, वाद्य आदि के साथ उत्सव मनाने का निर्देश पुराणों में किया गया है।

ये वृक्ष अपने फलों से प्राणियों का भरण-पोषण ही नहीं करते, अपितु स्वास्थ्य-वर्धक एवं पुष्टिकारक फल भी देते हैं। अतः इन्हें पवित्र एवं पुण्यप्रद कहा गया है, ताकि इनके रोपण एवं सम्बर्धन में लोगों की रुचि जगे और दृढमूल हों। ऐसे वृक्षों में आँवला (धारी) अन्यतम है। पद्मपुराण के सृष्टिखण्ड में धारीफल का गुणगान इस रूप में किया गया है—

धारीफलं परं पूतं सर्वलोकेषु विश्रुतम्।

यस्य रोपात्रो नारी मुच्यते जन्मबन्धनात्।

धारीफलं सदा सेव्यं भक्षणे स्नान एव च।

नियतं पारणे विष्णुः स्नानमात्रे हरेर्दिने।

आयुर्वेद में भी धारीफल को अनेक गुणों से सम्पन्न एवं अत्यन्त स्वास्थ्यवर्धक बताया गया है। आधुनिक चिकित्सक भी आँवला को विटामिन 'सी' का भंडार मानते हैं तथा किसी समय और किसी रूप में उसके सेवन का परामर्श देते हैं। कहा भी गया है—

‘धात्रीफलं सदा पथ्यम्।’

इसकी महती उपयोगिता को ध्यान में रखकर अक्षय-नवमी के दिन इस पेड़ के नीचे बैठकर भोजन बनाने और खाने का विधान पुराणों में किया गया है। यह परम्परा आज भी आस्तिक जनों के परिवारों में देखी जा सकती है।

विविध वृक्षों के सम्बर्धन एवं पूजन की प्रवृत्ति को बढ़ावा देने के लिए भारत में नाना व्रतों का विधान किया गया है। आमलकी एकादशीव्रत फाल्गुन मास में एकादशी के दिन होता है। आमलक (आँवला) वृक्ष में विष्णु-लक्ष्मी का निवास माना गया है।

अशोक वृक्ष अपने नाम के अनुसार ही फलदायी है। पद्मपुराण में कहा गया है—

‘अशोकः शोकनाशनः।’

‘रामचरितमानस’ के अनुसार लंका नगरी की अशोक-वाटिका में ही सीताजी अशोक वृक्ष के नीचे रहा करती थीं। रावण द्वारा तर्जित होने पर वे शोक दूर करने के लिए अशोक से प्रार्थना करती हैं—

‘सुनहिं विनय मम विटप असोका।

सत्य नाम करु हरु मम सोका।।

(मानस : ५.११.५)

पुष्पित अशोक का पूजन स्त्रियों सुख-सौभाग्य की प्राप्ति और शोक के नाश के लिए करती हैं। यह अशोकव्रत आश्विनमास के शुक्ल-प्रतिपदा के दिन होता है। इसी तरह अशोकाष्टमी व्रत चैत्रमास के शुक्लपक्ष की अष्टमी के दिन होता है। इस व्रत में अशोकपुष्पों से दुर्गापूजन का विधान है।

फलों का राजा आम कहलाता है। यह फल न केवल भारत में, अपितु विदेशों में भी काफी लोकप्रिय है। इसके निर्यात से हमें विदेशी मुद्रा की अच्छी आमदनी होती है। प्राचीनकाल में वसन्तोत्सव के दिन युवतियाँ इस वृक्ष का पूजन करती थीं। आजकल भी विवाह के दिन युवतियाँ इसकी पूजा करने जाती हैं। आम की मंजरी कामदेव के बाण के

रूप में प्रसिद्ध हैं। कामदेव के पाँच बाणों का उल्लेख इस प्रकार है—

अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका।

नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः।।

अर्थात् अरविन्द (लाल कलम), अशोक, चूत (आम), नवमल्लिका (चमेली) और नीला कमल— ये सभी पंचबाण (कामदेव) के बाण हैं।

इस वैज्ञानिक युग में सभ्यता के तीव्र विकास के कारण वनसम्पदा का तेजी से विनाश हो रहा है, जो मानवीय सत्ता के लिए बहुत अनिष्टकारी है। मनुष्य को इनसे ही प्राणवायु (ऑक्सीजन) प्राप्त होती है। वर्षा भी वनों के फैलाव पर निर्भर करती है। अतः वन एवं वनस्पतियों के संवर्धन पर सरकार के साथ स्वयंसेवी संस्थाएँ भी बहुत ध्यान दे रही हैं और इसके लिए कारगर कदम उठाए जा रहे हैं।

आम लोगों को इस ओर प्रेरित करने के लिए अनेक सूक्तिवाक्य (नारा) भी रचे गए हैं। उनमें एक वाक्य बहुत आकर्षक एवं प्रेरक है—

‘वृक्षो रक्षति रक्षितः।’

यह उद्घोष आर्षवाक्य ‘धर्म रक्षति रक्षितः’ के तर्ज पर है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य यदि वृक्ष की रक्षा करता है तो वह रक्षित वृक्ष भी मनुष्य की रक्षा करता है। परस्पर एक दूसरे के संरक्षण से ही दोनों का कल्याण सम्भावित है। गीता में भी देवताओं तथा मनुष्यों को यज्ञ के द्वारा एक दूसरे की भावना करने का निर्देश किया गया है और इसी में दोनों का कल्याण भी बताया गया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।

अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।

(गीता : ३.१०-११)

शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इन वनौषधियों का व्यापक महत्त्व है। प्राचीन भारतीय चिकित्सा-पद्धति इन वनौषधियों पर ही निर्भर थी।

आयुर्वेदशास्त्र में विविध वृक्षों एवं लताओं की जड़, तना, पत्तियों एवं फलों के द्वारा बनाए गए क्वाथ, सेंक, पिष्टि एवं चूर्ण आदि के माध्यम से सफल चिकित्सा का विधान है। अनेक रूपों में प्रतिक्रियात्मक एलोपैथी दवाओं के सेवन से ऊबे हुए रोगी तथा उनके परिजन आयुर्वेद की शरण में तेजी से जा रहे हैं। असाध्य एवं क्रोनिक बीमारी, जिसके लिए एलोपैथी दवाएँ बहुत कारगर नहीं हो पाती हैं, में वनौषधियों के प्रयोग आशातीत लाभकारी सिद्ध हो रहे हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीन काल से भारतीय मनीषियों, कवियों, चिन्तकों तथा विविध व्यवसायों से जुड़े लोगों के द्वारा वनसम्पदा- वृक्षों, लताओं तथा वनस्पतियों की महिमा एवं विशिष्टताओं का उल्लेख अनेक रूपों में किया जाता रहा है। वे अपने सेवकों तथा रक्षकों को सुख, सौभाग्य एवं आरोग्य आदि सभी मनोरथों की सिद्धि में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं। आइए, हम सभी इनके रोपण एवं संरक्षण के लिए दृढ़संकल्प होकर तत्पर हों।

बिहार नेशनल कालेज,
पटना विश्वविद्यालय।



देहनगर

नगर एक मूरतिपुर नाऊँ। राजा जीव रहै तेहि ठाऊँ ॥
का बरनों वह नगर सुहावन। नगर सुहावन सब मनभावन ॥
इहै सरीर सुहावन मूरतिपूर।
इहै जीव राजा, जिव जाहु न दूर ॥
तनुज एक राजा के रहा। अन्तःकरन नाम सब कहा ॥
सौम्य सील सुकुमार सयाना। सो सावित्री स्वान्त समाना ॥
सरल सरनि जौ सो पग धरै। नगर लोग सूधै पग परै ॥
वक्र पन्थ जौ राखै पाऊँ। वहै अध्व सब होइ बटाऊ ॥
रहै सँघाती ताके पतन ठावै ॥
एक संकल्प, विकल्प सो दूसर नावै ॥
बुद्धि चित्त दुइ सखा सरेखे। जगत बीच गुन अवगुन देखे ॥
अन्तःकरन पास नित आवै। दसरन देखि महासुख पावै ॥
अहंकार तेहि तीसर सखा निरन्त्र।
रहेउ चारि के अन्तर नैसुख अन्त्र ॥
अन्तःकरन सदन एक रानी। महामोहिनी नाम सयानी ॥
बरनि न पारौ सुन्दरताई। सकल सुन्दरी देखि लजाई ॥
सर्वमंगला देखि असीसै। चाहै लोचन मध्य बईसै ॥
कुन्तल झारत फाँदा डारै। चख चितवन सों चपला मारै ॥
अपने मंजु रूप वह दारा। रूपगर्विता जगत मँझारा ॥
प्रीतम प्रेम पाइ वह नारी। प्रेमगर्विता भई पिचारी ॥
सदा न रूप रहत है अन्तः नसाइ।
प्रेम, रूप के नासहि तें घटि जाइ ॥

— नूर मुहम्मद

आहार-शुद्धि से ब्रह्मानन्द की प्राप्ति

□ गोपालजी

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।

(गीता : ७.४)

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पंचमहाभूत तथा मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन सूक्ष्म तत्त्व ईश्वर की ही अष्टधा प्रकृतियाँ हैं। पंचमहाभूतों द्वारा शरीर के बाह्यकरण की रचना होती है। मन बुद्धि और अहंकार अन्तःकरण हैं। अन्तःकरण से प्रभावित और प्रेरित होकर ही शरीर के बाह्यकरणों के द्वारा समस्त कार्य-व्यापार होते हैं। पृथ्वी तत्त्व में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के सभी पाँचों विषय-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध विद्यमान रहते हैं। पृथ्वी की संरचना में जल, तेज (अग्नि), वायु और आकाश को कारण बताया गया है। सृष्टि का संहार होने पर ये तत्त्व क्रमशः एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं; यथा- पृथ्वीतत्त्व जलतत्त्व में, जलतत्त्व अग्नि तत्त्व में, अग्नि वायु में और वायु आकाश में विलीन हो जाता है। आकाश ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है।

सृष्टि की संरचना के सम्बन्ध में उपनिषदों में यह उल्लेख है कि अन्न से सभी जीवों की उत्पत्ति होती है। 'अन्नाद्भूतानि जायन्ते'। वनस्पति से अन्न उत्पन्न होता है। अन्न का अर्थ आहार के रूप में प्रयुक्त होनेवाले सभी प्रकार के अन्न, फल, साक-सब्जी आदि को समझना चाहिए।

चूँकि अन्न की उत्पत्ति पृथ्वी से होती है, पृथ्वी की उत्पत्ति जल से होती है, जल की उत्पत्ति तेज से होती है, तेज की उत्पत्ति वायु से होती है, वायु की उत्पत्ति आकाश से होती है और आकाश की उत्पत्ति ब्रह्म से होती है, इसलिए अन्न में ब्रह्म प्रतिष्ठित रहता है। अन्न से ही सभी ज्ञानेन्द्रियाँ और

कर्मेन्द्रियाँ पोषित होती हैं और उससे प्रभावित भी होती हैं।

प्रकृति त्रिगुणात्मक होती है। ये तीन गुण-सत्त्व, रज और तम हैं। इन तीनों गुणों के कारण अन्न की प्रकृति भी प्रभावित है। अन्न से जीवों की उत्पत्ति होने के कारण जीवों की प्रकृति भी तीन प्रकार की होती है- सात्त्विक, राजस और तामस। इसी के अनुसार जीवों के कर्म, कर्ता की बुद्धि और कर्म की प्रकृति भी प्रभावित होती है। अतः अन्न की प्रकृति का ज्ञान मनुष्य के सही कार्य-व्यापार के लिए आवश्यक है।

मनुष्य के शरीर में पंचकोशों का विभिन्न स्तर होने का भी उल्लेख तैत्तिरीयोपनिषद् के ब्रह्मानन्द-वल्ली में है-

“अन्नाद्वा प्रजाः प्रजायन्ते।... तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। (द्वितीय अनुवाक्)

...तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। (तृतीय अनुवाक्)

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। (चतुर्थ अनुवाक्)

...तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽननदमयः।” (पंचम अनुवाक्)

प्रथम कोश को अन्नमय कोश कहा गया है। अन्नमय कोश की आत्मा प्राणमय कोश है। अन्नमय कोश की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण प्राणमय कोश अंग-प्रत्यंग में व्याप्त है। प्राणमय कोश की अन्तरात्मा मनोमय कोश है। मनोमय कोश की अन्तरात्मा ज्ञानमय कोश है। ध्यान मन से होता है और ध्यान से ज्ञान प्राप्त होता है। विज्ञान से ही मनुष्य, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद एवं

इतिहास-पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, धनवेद, ज्योतिष, गारुड और शिल्प विद्या, द्युलोक, पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद, कीट, पतंग, पिपीलिका पर्यन्त सम्पूर्ण जीव, धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, साधु, असाधु, मनोज्ञ, अमनोज्ञ, अन्न, रस तथा इहलोक और परलोक को जानता है।

विज्ञानमय कोश की आत्मा आनन्दमय कोश है। समस्त प्राणी आनन्द से प्रेम करते हैं। सभी आनन्द चाहते हैं। आनन्दमय कोश का अन्तरात्मा स्वयं आनन्दमय को ही बताया गया है। आनन्द ही ब्रह्म है। अतः ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त करने की प्रथम सीढ़ी अन्नमय कोश ही है।

आहार की त्रिगुणात्मक प्रकृति के सम्बन्ध में भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है—

**आयुः सत्त्वबलारोग्य-सुख-प्रीति-विवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥
कट्वम्ल-लवणान्युष्ण-तीक्ष्ण-रूक्ष-विदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामय-प्रदाः ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥**

(गीता : १७.८-१०)

जिस व्यक्ति की प्रकृति सात्त्विक है, यानी जिस व्यक्ति के कर्म ज्ञान के प्रकाश से युक्त लोक-संग्रहार्थ और लोक-कल्याणार्थ हुआ करते हैं, उनको सात्त्विक आहार प्रिय होता है। इस श्रेणी के आहार में आयु को बढ़ानेवाले, सात्त्विक प्रवृत्ति बढ़ानेवाले, बल और आरोग्य बढ़ानेवाले आहार आते हैं। ये आहार रसपूर्ण होते हैं और शरीर में जाकर चिरकाल तक ऊर्जा प्रदान करनेवाले होते हैं। इस प्रकार के आहार में उत्तेजक, दाहकारक, अधिक खट्टा, तीता, गर्म आदि प्रकृति के आहार सम्मिलित नहीं होते हैं।

राजसी प्रवृत्तिवाले व्यक्ति को कड़वे, खट्टे, अधिक नमकीन, गर्म, तीक्ष्ण, रूखा और दाहकारक आहार प्रिय लगता है। इस प्रकार का आहार दुःख

और शोक को बढ़ानेवाला होता है। इसका अन्त दुःखदायी होता है। इससे शरीर में अनेक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ व्याधियुक्त हो जाती हैं और व्याधि से आधि भी उत्पन्न होती है। आधि मानसिक रोग है। आधि से व्याधि और व्याधि से आधि उत्पन्न होती है। राजसी आहार आधि और व्याधि का जनक है। अतः स्थिर सुख के लिए सात्त्विक आहार ही ग्रहण करने की सलाह दी गई है। सात्त्विक आहार आजीवन आरोग्य प्रदान करता है।

जो व्यक्ति तामसी प्रकृति के होते हैं, उन्हें सात्त्विक और राजसी आहार भी पसन्द नहीं पड़ता। चूँकि तामसी व्यक्ति को अज्ञानिता घेरे रहती है, अतः वह आहार की प्रकृति को समझे बिना उसके विकृत रूप को ही सही आहार समझ बैठता है। उसमें शुद्धता और सफाई का पूर्णतः अभाव रहता है। जो आहार रसहीन, बासी, जूठा और दुर्गन्धयुक्त होता है, वह तामसी प्रवृत्ति को बढ़ाता है। इसलिए तामस आहार सर्वथा त्याज्य बताया गया है।

अतः राजस और तामस आहार छोड़कर सात्त्विक आहार ग्रहण करने से मनुष्य अन्नमय कोश पर विजय प्राप्त कर लेता है।

फिर मनुष्य इसके आगे के कोश; यथा-प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय और आनन्दमय कोश पर विजय प्राप्त करने की दिशा में तेजी से आगे बढ़ता है, जिससे उसके पंच प्राण वायु-प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान कभी विकार-ग्रस्त नहीं होते। प्राण वायु की गति ठीक रहने से और नियन्त्रित रहने से मन ठीक रहता है। मन का स्थान इन्द्रियों से श्रेष्ठ होने के कारण इन्द्रियों का कार्य-व्यापार भी ठीक से चलता रहता है। 'मनसस्तु परा बुद्धिः' मनः से बुद्धि का स्थान श्रेष्ठ है। बुद्धि से ज्ञान की प्राप्ति होती है। मन की शुद्धि से शुद्ध बुद्धि की प्राप्ति होती है और मनुष्य ज्ञानमय कोश पर विजय प्राप्त कर परमानन्द ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त कर लेता है।

ए-४, आफिसर्स फ्लैट
न्यू पुनाईचक,
पटना-८०००२३



भ्रूण-पंचाशिका

□ भवनाथ झा

(गतांक से आगे)

कथमियमबलेति ब्रूहि लोके दुरुक्ता
यदि विलसति 'लक्ष्मीबाहु' राज्ञी च झ्रॉस्याम्।
नलिनमिव करेणोत्थम्भयन्ती च सीता
सुनवमपि पुरारेः कार्मुकं कूटकल्पम् ॥१६॥
माँ! बोलो तो सही कि यदि झ्रॉसी की रानी
लक्ष्मीबाई हैं और वह सीता भी हैं, जिन्होंने निहाई
के समान अविचल 'सुनव' नामक शैव धनुष को
एक हाथ से कमल के फूल के समान उठा लिया
था, तब इस संसार में नारी अबला है— ऐसा
दुष्प्रचार कैसे हुआ?
क्वचिदपि नहि हीना योषितोऽस्मिन् युगेऽपि
मतिबलदृढतासु प्रौढितायामथापि।
अनुपममतिशौर्यं दर्शयन्त्यश्च पुंभिः
सह विदधति कीर्तिं देशकालानपेक्षाम् ॥२०॥
इस युग में भी नारियाँ किसी तरह तुच्छ नहीं
हैं। बुद्धि, बल, दृढ़ता और सूझ-बूझ में लाजवाब
बहादुरी दिखाती हुई पुरुषों के साथ समय और
स्थान की सीमा से परे यश प्राप्त करती हैं।
हिमगिरिशिरसं ह्यारुह्य 'बच्छेन्द्रि' नाम्नी
ध्वजमतनुत कीर्तरेवरेस्ताख्यशृंगे।
अथ च गगनयानेन भ्रमन्ती हि नारी
ग्रहभगणविभाभी राजते 'कल्पनाख्या' ॥२१॥
बच्छेन्द्री पाल नाम की नारी ने हिमालय के
मस्तक पर चढ़कर एवरेस्ट की चोटी पर कीर्ति की
ध्वजा फहराई और आकाशयान से घूमती हुई 'कल्पना
चावला' नारी-ग्रहों और नक्षत्रों की ज्योति से आज
भी चमक रही है।
शिशिरगततुषाराच्छादिते पारतन्त्र्ये
नृपतिनयगुणाढ्या 'नायडू' कीर्तिमाप।

मधुभरपिकनादैः सूचयन्ती वसन्तं
प्रतिहतजनतायै 'भारतीय पिकी' सा ॥२२॥
शिशिर ऋतु के कोहरे से भरी परतन्त्रता की
हालत में राजनीति में कुशल सरोजिनी नायडू ने
कीर्ति पाई। कोयल-सी मधुसनी आवाज से पीड़ित
जनता के लिए वसन्त के आगमन की सूचना देती
हुई वे 'भारत-कोकिला' बनीं।
तदपि किमु मदीयं जन्म दुःखाय मातः
कलयसि धृतगर्भे येन मे स्यान्निपातः।
कथयितुमपि शक्तः को जनोऽस्मद्भविष्यं
सति मयि तनुहेमि प्राप्यते किन्तु मूर्तिः ॥२३॥
मुझे अपनी कोंख में धारण करनेवाली मेरी
माँ! अब भी क्या तुम मेरे जन्म को दुःख का कारण
मान रही हो, जिससे मुझे गिरा दिया जाएगा? कौन
कह सकता है कि मेरा भविष्य कैसा होगा? यदि मेरा
यह शरीर सोना है तो क्या इससे मूर्ति नहीं गढ़ी जा
सकती?
सुरमुनिनिबहाढ्ये भारते संस्थिता त्वं
विबुधपुरमृदं मां भ्रूणरूपाञ्च लब्ध्वा।
सुरनदजलसिक्तां नैव मूर्तिं सुपूज्यां
घटयसि कुत एषा कारुता स्यात् सुताय ॥२४॥
देवताओं और ऋषि-मुनियों से भरे-पूरे इस
भारत देश में रहती हुई, मुझ भ्रूण के रूप में
गंगाजल से गीली स्वर्ग की मिट्टी को पाकर भी यदि
आदरणीय मूर्ति नहीं गढ़ सकती हो तो भला बेटे के
लिए तुम्हारी ऐसी कारीगरी कहाँ से आएगी?
पतति यदि शरीरे पुष्पराशिः करिण्याः
पदतलनिहतैवाजीर्यते धूलिराशौ।
कुशलतरकराभ्यां तां च निर्माय धन्या
द्रव्यति क्वपाशे मालिकां भूषणाय ॥२५॥

यदि हथिनी के शरीर पर फूलों का ढेर गिरता है तो वह पाँव के तले कुचली गई धूल में ही सड़-गल जाता है। उसे ही पाकर कोई सुघड़ नारी अपने कुशल हाथों से माला गुँथकर अपना सौन्दर्य बढ़ाने के लिए लटों में टाँक लेती है।

**यदपि जननि नार्याः दुःसहं दुःखमत्र
भवति विकृतपुंभिः शासितायाः हठेन।
प्रतिपदमवमानं जायते तेन चाहं**

प्रतिपलमपि भीता जन्मनो मर्त्यलोके।।२६।।

माँ! हलाँकि यहाँ बुरे पुरुषों के हाथों फँसी नारियों को अनेक कष्ट झेलने पड़ते हैं, उन्हें पग-पग पर अपमान सहना पड़ता है; इसलिए मैं भी इस मृत्युलोक में जन्म लेने से हर समय सहमी हुई हूँ।

**पिपुरति सुखजातं ग्रस्तकण्ठयः परेभ्यो
दधति सकलदुःखं मौनमालम्ब्य नार्यः।**

**अधिगतमिव धातुः पूर्वजन्मार्जितं वा
लिखितमिव ललाटे भोग्यमेवेति मत्वा।।२७।।**

यहाँ तो गले में फाँस ढोती हुई नारियाँ दूसरों को ढेरों सुख बाँटती हैं। स्वयं तो चुप रहकर सभी दुःखों को विधाता की सौगात या पूर्व जन्म में संचित मानकर अपने ऊपर ले लेती हैं। वे मान लेती हैं कि मेरे भाग्य में जो लिखा है उसे तो झेलना ही पड़ेगा।

**परिणयविधिकाले द्रव्यहानिं प्रकल्प्य
तुदति बहुलमन्दा कन्यका-जन्मदाता।**

**सकलगुणनिधानीं तां समासाद्य दीनो
धननिचयहतश्रीः क्षीयते भूरि लोके।।२८।।**

कन्या का पिता उसके विवाह के समय धन-दौलत की खपत का अंदाजा लगाकर सचमुच बहुत बेचैन हो जाता है। सभी गुणों की खान बेटी को पाकर भी बेचारा गरीब तो रूपये जोड़ता-जोड़ता ही इस समाज में पतला हो जाता है।

**मृदुलाविशदशय्याकीर्णपुष्पावलीव
सुखदशयनहेतुः पिश्यते हन्त वामा।**

**त्वमसि मम हृदिस्था जीवितं वेति शब्दैः
चपलितरशनेक्तैर्मद्यपाय्यैर्मदान्धा।।२९।।**

हाय! लम्बी-चौड़ी मुलायम सेज पर बिखरे गए फूलों के ढेर की तरह यह नारी सुख से सोने के लिए कुचल दी जाती है। लपलपाती जीभवाले पुरुषों के द्वारा 'तुम मेरे दिल में हो, तुम मेरी जान हो' इत्यादि कहे गए शब्दों से नारियाँ भी तो नशे में अन्धी हो जाती हैं; जैसे ये शब्द मदिरा के प्याले हों।

**पतिगृहमुपयाता काञ्चनाण्डप्रदात्री
विहगकुलजनीव स्वर्गजातेव धन्या।**

**मृदुवचनसुधाभिः स्नाति काचित् समेषां
प्रचुरधनविहीनास्त्वन्यथा दह्यतेऽपि।।३०।।**

ससुराल में पैर रखनेवाली कोई-कोई सोने का अण्डा देनेवाली स्वर्ग की चिड़िया की तरह भाग्यशालिनी कोमल वचनरूपी अमृत से नहाती है, नहीं तो जो ढेरों दौलत नहीं लेकर जाती है, जला भी दी जाती है।

**तनुरपि न मदीया नासवो नैव मे हृत्
मतिरपि न मदीया नैवमज्ञानमन्दा।**

**सकलमपि विदित्वा ब्रह्मरूपे च पत्यौ
भजति परममुक्तिं नान्यथा दत्तचिता।।३१।।**

'यह शरीर, ये प्राण, यह मन, यह बुद्धि और इसी तरह अज्ञान भी वास्तव में मेरे नहीं हैं। इन सारी बातों को समझकर पति को ब्रह्मस्वरूप मानकर उसी में अपना मन लगाकर नारी मोक्ष पाती है, न कि दूसरे प्रकार से।

**वद जननि किमस्मिन् गर्भगे तेऽधिकारो
रुधिरपिशितपुष्टे स्वाङ्गभूते वसाक्ते।**

**वद कथमसि तूष्णीमद्य नो चेदशक्ता
क्षुरमपि निशिताग्रं वीक्ष्य लोलं पुस्तात्।।३२।।**

बोलो माँ! अपने खून, वसा और मांस से पाला-पोसा हुआ, अपने शरीर के अवयव इस गर्भ में स्थित भ्रूण पर तुम्हारा क्या कोई अधिकार है? नहीं तो आज सामने नुकीला और लपलपाता छुरा देखकर भी तुम लाचार होकर चुप क्यों हो?

(क्रमशः)



सूर के उपालम्भ

□ डी० आर० ब्रह्मचारी

उपालम्भ प्रेमजगत् का एक अहिंसक, किन्तु अमोघ अस्त्र है; जिसका प्रभाव रिस-रिसकर पड़ता है। फल होता है— **भीजै सकल शरीर**। इसका महत्त्व न केवल 'व्यवहारविदे' है, बल्कि यह एक 'शिवेतरक्षतये' का मनोवैज्ञानिक औषध भी है। इसके द्वारा प्रभावित व्यक्ति का निदान होता रहता है। भीतर की कसक निकालने का यह सहज तरीका तो है ही, वांछित सिद्धि का सकारात्मक मार्ग भी है। चाहे वह दाम्पत्य प्रेम का संयोग-वियोग पक्ष हो या देवादि-विषयक प्रेम अथवा वात्सल्य से जुड़ा प्रसंग।

'उपालम्भ' शब्द उप+लभ्+घञ् से बना है, जिसका अर्थ होता है उलाहना। यह पूर्णतः निन्दा या दुर्वचन नहीं होता, क्योंकि इसमें आलम्बन को अपनी स्थिति का भान कराना ही प्रमुख होता है अर्थात् प्रेम की प्रधानता।

व्रज की रौनक तभी तक है, जब तक श्रीकृष्ण हैं। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर तो व्रज निष्प्राण हो जाता है—

उधौ, हमहि कहा समुझा वहु।
पसु फंशी सुरभी ब्रज कैं सब देखि सवन सुनि आबहु।।
त्रिन न चरत गो पिबत न पय सुन कूँडन वन-वन डोलै।
अलि कोकिल दे आदि विहंगम भौति भयानक बोलै।
जमुना भई स्याम स्यामहि किनु इडु छीन छय रोषी।
तरुवर पत्र वसन न सँभारत विरह कूँडभय जोषी।
गेहृल के सब लोग दुखित हैं नीर बिना ज्यों मीन।
'सूरदास' प्रसु प्रान न द्यूत अवधि आस मैं लीन।

और गोपियों पर तो मानो वज्रपात हो जाता है। इसपर कृष्ण की निर्दयता यह है कि एक झटके

में ही मानो सब तोड़कर इन सर्वांग-समर्पिताओं को एकदम भूल जाते हैं। उसपर जले पर नमक के समान उद्धव के द्वारा सन्देश।

प्रेम में पड़कर सब कुछ न्योछावर कर देनेवाली उपेक्षिता उपालम्भ देने से भी गई? उपालम्भ में और कुछ नहीं, सघन आकर्षण झंकृत हो उठता है। समस्त विरह-निपीड़िता निःसहाया की वेदना आकार ग्रहण कर वाणी के माध्यम से फूट पड़ती है।

गोपियाँ भ्रमर के व्याज से उद्धव को और प्रकारान्तर से स्वयं कृष्ण से कहती हैं—

कृष्णसार मृग की भोली-भाली हिरणियाँ
व्याघ के मधुर गान का विश्वास कर उसके जाल में
फँसकर मारी जाती हैं; जैसे ही उस छलिया कृष्ण
की कपटभरी मीठी-मीठी बातों को हमने सच मान
लिया, अतएव कृष्ण के दूत भ्रमर! अब तू कुछ
मत कह। कोई दूसरी बात हो तो कह सकता है—

वयमृतमिव जिह्वाव्याहृतं श्रद्धानाः

कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हिरण्यः।

ददृशु रसकृ देतत्तन्नखस्पर्शतीव्र -

स्मररुज उपमन्त्रिन् भण्यतामन्यवात्ता।।

(भागवत : १०.४७.१६)

सूर का एक पद है—

प्रीति करि दीहीं गरे छुरी।

जैसे अधिक चुगाय कपट वन पाछे करत बुरी।

मुरली मधुर चेंप कर काँपो मोरचन्द्र ठट वारी।

बंक विलोक्त्रित लूकलागि बस सकी न तनहि सहारी।

तलपत छाँड़ि चलै मधुवन को फिरि कै लई न सार।

'सूरदास' का कल्प तरौवर फेरिन बैठी डार।

प्रेम करके तो जैसे गले पर छुरी चला दी। जैसे शिकारी कपट भाव से चिड़ियों को दाने चुगाकर बाद में उसकी दुर्गति कर डालता है, वैसे ही कृष्ण ने हमारे साथ किया है। उन्होंने मधुर मुरली का लासा लगाकर मोरपंख की ओट में बैठकर वक्रतापूर्वक देखा। उस आकर्षण की अग्नि से हम अपने तन को सँभाल न सकीं। फिर हमें तड़पती छोड़कर वे मधुवन चल पड़े। कोई सुधि तक नहीं ली। उस कल्पवृक्ष को छोड़ हमने अन्य डाल का सहारा नहीं लिया।

वह कहती है—

काहै कौं गोपीनाथ कहावत।

जौ मधुकर वै स्याम हमारे क्यों न इहाँ लौं आवत।

इसे वाणी की हिंसा कहकर हिंसाशास्त्र के नैपुण्य का बखान करना विरह-विदग्धा की अन्तर्जाला की पूर्ण रूप से अनदेखी होगी, जिसे घोर अन्याय कहा जाएगा।

कृष्णप्रेम में पगी गोपियाँ कृष्ण के सन्देश-वाहक उद्धव के ज्ञानोपदेश को सुनकर कृष्ण के कुब्जाप्रेम को लक्षित करती उपालम्भ देना नहीं भूलतीं—

उधौ! सब स्वारथ के लोग।

आपुन केलि करत कुब्जा सँग हमहि सिखावत जोग।

योगसन्देश केवल हमारे लिए, स्वयं कुब्जा के संग केलि-क्रीड़ा! वाह रे प्रेम निभानेवाले! कुब्जा के लिए तेरा योगसन्देश कहाँ चला गया? उद्धव! संसार में सभी स्वर्धी हैं। इस उपालम्भ के बहाने वियोगिनी गोपियों की टीस तो व्यंजित होती ही है, भले ही इसे कोई वक्रोक्ति और व्यंग्य की अक्ल के स्केल से नापता रहे।

सूर के उपालम्भ को देखते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है— “ऐसा सुन्दर उपालम्भ-काव्य और कहीं नहीं मिलता।”

सूर में व्यंग्य है, वक्रोक्ति है, कूटोक्ति है, हास्य-विनोद है और उपालम्भ का तो कहना ही क्या! सभी का अपना-अपना स्वाद है, महत्त्व है, कोई किसी से कम नहीं। पर उपालम्भ सूर की निजी पहचान है, जिसमें भावना सर्वोपरि है।

व्यंग्य में शब्दार्थ कहीं तिरस्कृत होता है, कहीं संक्रमित। कहीं शब्दार्थ से व्यंग्यार्थ का क्रम संलक्ष्य होता है, कहीं असंलक्ष्य। वक्रोक्ति में अर्थ के साथ-साथ शब्द की अनिवार्यता होती है—वर्ण-विन्यास की वक्रता, पदपूर्वाद्ध-वक्रता, पद-परार्द्धवक्रता, वाक्य-वक्रता, प्रकरण-वक्रता तथा प्रबन्ध-वक्रता। कूटोक्ति में कविता गौण हो जाती है, आस्वादकों को अर्थ-दोहन में शीर्षासन करना पड़ता है। इससे भिन्न हास्य में विद्रूपता उसका विभाव होता है। बिना इसके हास्य सम्भव नहीं।

व्यंग्य हो अथवा वक्रोक्ति सूर के प्रसंग में बहुधा लोग इस पर जोर मारने लगते हैं, किन्तु ये साधन हो सकते हैं, साध्य नहीं। साध्य तो वह तत्त्व है, जिससे सहृदय अभिभूत हुए बिना नहीं रह पाता। शतपत्र शतभेद न्याय से वह आशु प्रभाव डालनेवाला है, बाएँ-दाएँ देखने का अवकाश नहीं देता— वह चितवन और कछू जिहि बस होत सुजान।

व्यंग्य तिलमिला देता है, क्योंकि उसमें पैनापन है। वह चुभता अधिक है, वह बेधता है। वक्रोक्ति जैसा नाम है, उसमें वक्रता है, टेढ़ापन। हास्य की तो कोई बात नहीं। कहीं-कहीं हँसी उड़ाने की स्थिति तो उत्पन्न हो जाती है, पर उसमें हल्कापन है, गहराई नहीं। पर उपालम्भ में छुअन है, वह छूता अधिक है। उसमें भावों को आन्दोलित करने की क्षमता है, मीठी मार है, जिसका काट नहीं। व्यंग्य में मार है पटकनिया। सूर की गोपियों के उपालम्भ में पिघलाने की क्षमता है। गोपियों के प्रति अन्याय हुआ है, उसकी सच्चाई प्रतीतिगम्य हो उठती है। उसके लिए साक्ष्य अपेक्षित नहीं। सकारात्मक भाव

पर अवलम्बित है वह। सूर की गोपियाँ अत्यन्त भोली हैं।

उपालम्भ में रूपवादिता नहीं होती, न सूर के उपालम्भ में रीतिकालीन विलासिता की गन्ध आती है। वह एक सच्चाई है, जो कृष्ण को कृष्ण बनाने में भूमिका निभाती है। चाहे भागवत के कृष्ण हों या महाभारत के। युयुत्सा की असामान्य स्थिति को निरंकुश होने से बचाने में उपालम्भ के निहितार्थ की उपेक्षा नहीं की जा सकती। संवेदनशीलता की धार बराबर बनी रहती है।

उपालम्भ न तो Complain है, न Claim और न Blame; वह मात्र उपालम्भ है।

पुत्र माँ को पूरा-पूरा चाहता है। उसके मातृत्व का खण्डित या वितरित होना उसके लिए सह्य नहीं। वह नहीं चाहता कि कोई उसके एकच्छत्र प्रेम में सेंध लगाए, घुसपैठ करे, हिस्सेदार हो।

बालकृष्ण पर आरोप है कि उसने मक्खन चुराकर खाए हैं। यशोदा के समक्ष शिकायत आई है, पर माँ बेटे को छोड़कर दूसरे की क्यों हो भला, बेटा यही तो चाहता है, कहता है— माँ! मानो तो सही, मैंने मक्खन नहीं खाए हैं। खाता भी कैसे? सुबह से शाम तक तुम्हारी गायों के पीछे लगा फिरता हूँ। फुर्सत कहाँ कि मक्खन-वक्खन के फेरे में पड़ूँ। फिर मेरे हाथ भी तो उतने बड़े नहीं कि छींके तक जा सकें? तू भी चट से दूसरे की पतियाने लगी। बुद्धि की भोली ही जो ठहरी। तेरी यह लत मुझे तनिक भी नहीं भाती। क्या करूँ; मैं तो तंग आ चुका। रख ले यह अपनी लकड़ी-कमली। बहुत नचा चुकी।

चाहे चालाकीभरा सही, बालक कृष्ण का उपालम्भ है माँ के प्रति। वह चाहते हैं कि माँ हमेशा उनके पीछे खड़ी हो। फल भी यही होता है— 'सूरदास' तब विहँसि जसोदा लै उर कंठ लगायो।

पक्ष लेती माँ कह ही डालती है—
कहँ मेरो कान्ह, कहाँ तुम ग्वारिन,
यह विपरीत न जानी।

परंतु,

आवत 'सूर' उरहने के मिस
देखि कुँ वर मुसुकानी।।
इस प्रसंग में 'मैया मुझे दाऊ बहुत खिझायो'

का यह उपालम्भ ध्यातव्य है—

तू मोही को मारन सीखी दाउहि कबहु न खीझै।
इसपर तुरत ही

मेहन-मुख रिस की ये बातें जसुमति सुनि-सुनि रोझै।

सुनहु कान्ह बलभद्र चवाई, जनमत ही को धृत।

'सूर' श्याम मोहि गोधन की सौं हों माता तू पूत।

वैसे ही, 'मैया बहुत बुरो बलदाऊ' में पुत्र की शिकायत है—

कहन लथो बन बड़े तमासो, सब मोड़ मिलि आऊ।

मोहू को चुचुकारि गयो लै, जहाँ सघन वन झाऊ।

भागि चलौ कहि, गयो उहाँ तै कटि खाउ रे हाऊ।

हों डरपौं, काँपौं, अरु रोवौं, कोउ नहिं धीर धराऊ।

थरसि गयो, नहिं भागि सकौं, वै भागै जात अगाऊ।

मोसो कहत मोल को लीनो, आपु कहावत साऊ।

'सूरदास' बल बड़े चवाई, तैसेहि मिलै सखाऊ।

तथा

हों न चरैहों गाई।

सिगारै ग्वाल धिरावत मोसौं मेरो पाइ पिराई।

जो न पतियाहि पूछि बलदाउहि अपनी सौंह दिवाई।

यह सुनि माइ जसोदा ग्वालनि गारी देत रिसाई।

मैं पठवति अपने लरिका कौं आवे मन वह राई।

'सूर' श्याम मेरो अति बालक मारत ताहि रिगाई।

शिकायत निन्दाप्रधान होती है, एकतरफा।

शिकायत-कर्ता की पूरी शक्ति शिकायत-पुष्टि में केन्द्रित होती है, पर उपालम्भ में दोनों पक्ष के भीतर की सच्चाई को उद्बुद्ध कर अभिलाषापूर्ति की प्रबल आकांक्षा दरसाई जाती है। दूसरी बात,

शिकायत, निन्दा या ताना वस्तुगत होती है, उपालम्भ आत्मगत।

आधुनिक कवियों में मैथिलीशरण गुप्त की—
‘मैंने मुख्य उसी को माना, जो वह मन में लाते’ की
आस्थावाली यशोधरा प्रियतम को उपालम्भ देती
हुई कहती है—

सिद्धि हेतु स्वामी गए, यह गौरव की बात।
पर चोरी-चोरी गए, यही बड़ा व्याघात।
सखि! वो मुझसे कहकर जाते।

जानकीवल्लभ शास्त्री बादल से उपलम्भ
भरे शब्दों में कहते हैं—

दीर्घ दाघ निदाघ उगलता रहा आग ही,
डसता भूमि मयूख दन्त रवि शेष नाग ही।
हरित भूमि तरु-गुल्म रह गए उलस-झुलसकर
शुष्क कंठ, आतुर उर कातर स्वर नारी-नर।
ऐसे में तू एक शिखर से अपर शिखर पर
रोमल श्यामल मेष-शशक-सा विचर-विचर कर-
चरता है परिणत गज-सा वह खेल दिखाता
नटखट बादल!

ध्यातव्य है, उपालम्भ कमजोर भाव और
भाषा के निर्धन लोगों के वश की नहीं। यह संयम
की उतनी ही अपेक्षा रखता है, जितनी भीतरी

शक्ति की। बेलाग-लपेट के कहना अलग बात है,
संवेदनशील होना अलग। जीभ में तलवार बाँधकर
कहना और पुरअसर होने योग्य कहना— दोनों दो
बातें हैं। संवेदनशील होकर पुरअसर होने योग्य
कथन बिना साधना के, बिना तप के सम्भव नहीं।—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।

(गीता : १७.१५)

सूर की गोपियाँ विद्यापति के ‘हमर अभाग
हुनक नहिं दोष’ की जगह ‘प्रीति कर दीन्हें गरे छुरी’
कहती हैं तो वहाँ आक्रामकता Offensiveness या
Aggressiveness नहीं, सुरक्षात्मकता
Defensiveness ही उसका लक्ष्य होता है, उत्तेजित
करना नहीं— प्रीति कर काहू सुख न लह्यो। सूर में
गोपियों का कृष्ण के प्रति उपालम्भ तो है ही, भक्त
कवि का आराध्य के प्रति, कृष्ण का यशोदा के
प्रति भी उपालम्भ में महारत हासिल है, जो साहित्य
की निधि है।

हिन्दी-विभाग,

समस्तीपुर-८४८१०१



को लाभो गुणिसंगमः किमसुखं प्राज्ञैतरैः संगतिः
का हानिः समयच्युतिः निपुणता का धर्मतत्त्वे रतिः।
कः शूरो विजितेन्द्रियः प्रियतमा काऽनुव्रता किं धनं
विद्या किं सुखमप्रवासगमनं राज्यं किमाज्ञाफलम्।।

लाभ क्या है?— गुणवानों के संग रहना ही लाभ है। दुःख क्या है?— मूर्खों के साथ रहना ही
दुःख है। हानि क्या है?— व्यर्थ समय गँवाना ही हानि है। निपुणता (चतुराई) क्या है?— धर्म की
गहराई से प्रेम ही निपुणता है। साहसी या वीर कौन है?— जिसने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर
ली हो, वही साहसी या वीर है। पत्नी कौन है?— जो स्त्री पति के अनुकूल आचरण करती हो, वही
पत्नी है। धन क्या है?— विद्या ही धन है। सुख क्या है?— अपने गाँव-घर में रहना ही सुख है। राज्य
क्या है?— प्रत्येक आज्ञा का उल्लंघन न होना ही राज्य है।

माचीन हिन्दू-वैज्ञानिक विचारों की वैश्विक श्रेष्ठता

□ डा० भुवनेश्वर प्रसाद गुरुमैता

आज के आंग्लविद्या-विभूषित एवं हिन्दू-संस्कृति के प्रति हीन दृष्टिकोण रखनेवाले सज्जनों को निम्नलिखित बातें जानकर हैरानी होगी। काश! उन्हें हिन्दू गौरव-गरिमा की इन बातों को जानकर उनके हृदय में स्वदेशाभिमान का संचार हो।

अमेरिका की खोज क्रिस्टोफर कोलम्बस ने नहीं की। मैक्सिको के अजतीस के देवालयों से प्राप्त भारतीय कला के नमूने साबित करते हैं कि अमेरिका में हिन्दू कोलम्बस से बहुत पहले ही पहुँच गए थे। सौभाग्य से मुझे यह जानकारी अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के पुरातत्त्ववेत्ता डा० वाकणकर ने दी थी। 'इण्डिया : मदर ऑफ अस ऑल' में भी यह जानकारी दी गई है।

क्या भारत को वास्को-डि-गामा ने खोज निकाला? यह बिलकुल गलत है। वास्को-डि-गामा के जहाज का अफ्रीका से दक्षिण भारत तक एक भारतीय (केरल के) नाविक ने मार्गदर्शन किया था। भारतीय जहाज वास्को-डि-गामा के जहाज से कई गुना बड़ा भी था। यह जानकारी भी मुझे स्व० डा० वाकणकर ने दी थी। इसका पुरातात्विक प्रमाण अभी भी पेरिस के संग्रहालय में मौजूद है।

तथाकथित 'पायथागोरस सिद्धान्त' को पायथागोरस ने सूत्रबद्ध किया, यह सरासर भ्रामक और मिथ्या है। इस सिद्धान्त का उल्लेख पायथागोरस के पैदा होने से बहुत पहले भारत के शिल्पसूत्र में है। किसी भी त्रिभुज की दो रेखाएँ मिलकर तीसरी से बड़ी होंगी। यह भारत का साधारण आदमी भी

जानता है और खेत में चलते समय कोने का रास्ता अपनाता है।

गुरुत्वाकर्षण शक्ति की खोज न्यूटन ने नहीं की; बल्कि विख्यात भारतीय खगोलशास्त्री आर्यभट्ट एवं भास्कराचार्य भी इस शक्ति से परिचित थे; जो न्यूटन से क्रमशः एक हजार एवं पाँच सौ वर्ष पहले के हैं।

क्या विद्युत् शक्ति की खोज मात्र सौ वर्ष पूर्व हुई? नहीं; वेदों में विद्युत् शक्ति, चुम्बकत्व, ताप, प्रकाश, ध्वनि एवं ईथर की सुस्पष्ट परिभाषाएँ दी हुई हैं। यहाँ तक कि परमाणु-मिश्रण का सिद्धान्त भी वेदकाल में ज्ञात था।

आधुनिक भारतीय गणितज्ञ चन्द्रशेखर ने सितारे के सबसे बड़े आकार की गणना की। अब वैज्ञानिक उसी को चन्द्रशेखर-सीमा कहते हैं।

रामानुजम एक श्रेष्ठ गणितज्ञ थे, जिन्होंने केंब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो० हार्डी के साथ सम्भावना सिद्धान्त (Probability Theory) की खोज की। रामानुजम की मौलिक प्रतिभा को स्वयं प्रो० हार्डी ने सौ में सौ अंक दिए, जबकि स्वयं को केवल पच्चीस। इस प्रकार हार्डी के मन में रामानुजम के प्रति अधिक आदर था।

शून्य की संकल्पना एवं दशमलव-प्रणाली भारत के हिन्दू-मनीषियों की ही खोज है।

प्राचीन हिन्दू-गणित के सहारे (जो वैदिक गणित के नाम से जाना जाता है) कठिन-से-कठिन गणितीय प्रश्नों का एक या दो पंक्तियों में मौखिक उत्तर सम्भव है।

संगणक (Computer) में सभी तरह की गणना के लिए प्रयुक्त द्वांक संख्या की संकल्पना हिन्दू-पुराणों में हजारों वर्ष पूर्व अस्तित्व में थी। द्वांक प्रणाली में संख्या या तो '१' (अस्ति) अथवा '०' (नास्ति) होती है। सभी संख्याएँ '१' और '०' का मिश्रण हैं। हमारी उपनिषदें कहती हैं—“समूची सृष्टि '१' अर्थात् अस्ति और '०' अर्थात् नास्ति का मिश्रण है।” उपर्युक्त कथन और तथ्य तो मात्र एक झलक है। पूर्ण सूची बनाने का प्रयत्न करें तो वह अन्तहीन होगी। इस प्रकार हिन्दुओं ने ही संख्या-प्रणाली का अन्वेषण किया। पाँचवीं शताब्दी में आर्यभट्ट ने शून्य (०) का प्रयोग किया था। आर्यभट्ट से भी हजारों वर्ष पूर्व वैदिक कालखण्ड में शून्य का ज्ञान था। वस्तुतः हिन्दुओं ने ही विश्व को दशमलव प्रणाली दी।

नौ-परिवहन का सूत्रपात छह हजार वर्ष पूर्व सिन्धु नदी में हुआ। अँगरेजी शब्द (Navigation) नौ-परिवहन की उत्पत्ति संस्कृत शब्द 'नौगति' से हुई। इसी प्रकार अँगरेजी शब्द NAVY- (नौसेना) भी संस्कृत के 'नौ' से ही विकसित हुआ।

भास्कराचार्य ने खगोलशास्त्री स्मार्त से सैकड़ों वर्ष पूर्व पृथ्वी द्वारा सूर्य-प्रदक्षिणा की अवधि नापी थी। पाँचवीं शताब्दी में यह अवधि ३६५.२५८७५६४८४ दिन निर्धारित की गई।

'पाय' का मूल्य सबसे पहले बोधायन ने आँका। उसी ने उसका सिद्धान्त परिभाषित किया, जो 'पायथागोरियन सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है। बोधायन ने यह कार्य यूरोपीय गणितज्ञों से बहुत पहले ईसापूर्व छठी शताब्दी में किया था।

बीजगणित, त्रिकोणमिति एवं कैलक्यूलस भारत की ही विश्व को देन है। श्रीधराचार्य ने ग्यारहवीं शती में वर्ग-समीकरण (Quadratic equation) की व्याख्या की। ग्रीकों और रोमनों द्वारा उपयोग में लाया जानेवाला अधिकतम अंक

१०६ था, जबकि ईसापूर्व ५००० वर्ष पहले वैदिक काल में हिन्दू १०^{२३} जैसे बड़े तक विशिष्ट नामों के साथ प्रयोग में लाते थे। आज भी विशिष्ट नाम से उपयोग किया जानेवाला अधिकतम अंक 'टेरा' (१०^{१२}) है।

जेमोलॉजिकल इंस्टीट्यूट ऑफ अमेरिका के अनुसार वर्ष १८६६ तक विश्व में भारत ही रलों का एकमात्र स्रोत था।

अमेरिका स्थित आई० ई० ई० ई० ने साबित किया कि प्रो० जगदीश चन्द्र बसु ही बेतार संचार-प्रणाली के अन्वेषक थे, न कि मार्कोनी; जिसके बारे में विश्व का वैज्ञानिक समाज सौ साल भ्रम में रहा।

सिंचाई के लिए जलाशय एवं बाँध का निर्माण सबसे पहले भारत में सौराष्ट्र में हुआ।

ईसा पूर्व १५० वर्ष के शक राजा— रुद्रदमन प्रथम के अनुसार, रैवतक पहाड़ी पर मनोरम झील- 'सुदर्शन' का निर्माण चन्द्रगुप्त मौर्य के कार्यकाल में हुआ।

शतरंज (चतुरंग या अष्टपद) का मूल स्थान भारत ही है।

शल्य चिकित्सा के प्रणेता सुश्रुत थे। २६०० वर्ष पूर्व सुश्रुत तथा समकालीन चिकित्साशास्त्रियों ने अति जटिल शल्य क्रियाएँ कीं; जैसे— सिजेरियन, मोतियाबिन्द, अवयव-प्रत्यारोपण, पथरी आदि। यहाँ तक कि प्लास्टिक एवं शल्य क्रिया में सवा सौ से अधिक उपकरण प्रयुक्त होते थे। अनेक प्राचीन ग्रन्थों में शरीरशास्त्र, जन्तु-वनस्पति विज्ञान (Etiology), भ्रूण विज्ञान, पाचनक्रिया, चयापचय (Metabolism), आनुवंशिकता विज्ञान (Genetic) और रोग से प्रतिरक्षा का गहरा ज्ञान पाया जाता है।

पाँच हजार वर्ष पूर्व जब विश्व की अनेक सभ्यताएँ वन-निवासी घुमन्तू लोगों तक ही सीमित थीं, हिन्दुओं ने सिन्धु घाटी में हड़प्पा सभ्यता का विकास किया।

स्थान-मूल्यप्रणाली, दशमलव प्रणाली का विकास भारत में ही ईसा की पहली शताब्दी में हुआ।

वनस्पतिशास्त्र (Botany) के विज्ञान की दृष्टि से भारत का भावप्रकाश, निर्युत और वनस्पति-चन्द्रोदय में वर्णित सैकड़ों जड़ी-बूटियों की उपादेयता और विस्तृत परिचय की कोई अवहेलना नहीं कर सकता।

किन्तु आज के भारत में यदि हम उस महान् भारत की झलक भी नहीं देखते हैं तो इसका अर्थ है कि हमें अपनी क्षमता का कोई आता-पता नहीं है और यदि है तो हम पुनः एक बार एक तेजस्वी

एवं प्रेरणादायी देश के रूप में उभर सकते हैं, जिसके द्वारा प्रकाशित मार्ग का शेष विश्व अनुयायी बनेगा।

आएँ, हम अपने आत्मविश्वास को जगाएँ। जो हमारे पूर्वज कर सके, उसे हम उनकी सुयोग्य सन्तानें क्यों नहीं कर सकतीं?

पो०- मटियारी,
जिला- सुपौल,
पिन- ८४३३३६



धनुष-भंग : पाणि-ग्रहण

ललित गात राजत अति रघुबीर।
नरपति-सभा मध्य मनौ ठाढ़े, जुगल हंस मति धीर।।
अलख-अनन्त-अपरिमित महिमा, कटि-तट कसे तुनीर।।
कर धनु, काकपच्छ सिर सोभित, अंग-अंग दोड वीर।।
भूषण विविध विसद अम्बर जुत, सुन्दर स्याम सरीर।
देखत मुदित चरित्र सबै सुर, ब्योम-बिमाननि भीर।।
प्रमुदित जनक निरखि मुख-अम्बुज, प्रगट नैन मधि नीर।
तात कठिन-प्रन जानि जानकी, आनति नहि उर धीर।।
करुनामय जब चाप लियौ कर, बाँधि सुदृढ़ कटि-चीर।
भूभुत सीस नमित जो गर्वगत, पावक सींच्यो नीर।।
डोलत महि अधीर भयौ फनिपति, कूरम अति अकुलान।
दिग्गज चलित, खलित मुनि आसन, इन्द्रादिक भय मान।।
रवि मग तज्यौ, तरिक ताके हय, उत्पथ लागे जान।
सिव-बिरंछि ब्याकुल भए धुनि सुनि, जब तोर्यौ भगवान।।
भंजन शब्द प्रगट अति अद्भुत, अष्ट दिसा नभ-पूरि।
स्रबन-हीन सुनि भए अष्टकुल, नाग गरब भय चूरि।।
इष्ट सुरनि बोलत नर तिहिं सुनि, दानव-सुर बडु सूर।
मोहित विकल जानि जिय सबहीं, महा प्रलय कौ मूर।।
पानि-ग्रहन रघुबर बर कीन्ह्यौ, जनकसुता सुख दीन।
जय-जय धुनि सुनि करत अमरगन, नर-नारी लवलीन।।
दुष्टनि दुख, सुख सन्तनि दीन्ही, नृप-बत पूरन कीन।
रामचन्द्र दसरथहिं बिदा करि सूरदास रस-भीन।।

राष्ट्रीय चेतना के अग्रदूत : स्वामी विवेकानन्द

□ डा० श्यामानन्दलाल दास

सर्वविदित है कि स्वामी विवेकानन्द की गणना देश-दुनिया के श्रेष्ठ आध्यात्मिक साधकों में है। उन्होंने श्री रामकृष्ण परमहंस के सान्निध्य में रहकर अपनी प्रतिभा, साधना और गुरु के आशीर्वाद से वेदान्त-दर्शन के अद्वैत की सद्यः अनुभूति ही नहीं, बल्कि इसके मर्म को सरल, स्पष्ट और व्यावहारिक रूप में संसार के समक्ष प्रस्तुत किया। यह सचमुच अभूतपूर्व है। उनकी दृष्टि में 'प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है।' कोई व्यक्ति चोर-बदमास ही क्यों न हो, घृणा का पात्र नहीं है। वह तो नारायण-रूप है। शिवज्ञान से सबों की सेवा हमारा कर्तव्य है, ... दया या परोपकार का प्रश्न नहीं उठता।

इस आध्यात्मिक चेतना से ही उनकी राष्ट्रीय चेतना उद्भूत है। दूसरे शब्दों में, स्वामी विवेकानन्द की राष्ट्रीयता व्यापक धार्मिक चेतना पर आधारित है। धर्म या अध्यात्म राष्ट्रीयता के आड़े नहीं आता है। उनके रोम-रोम में अनायास देशभक्ति प्रस्फुटित हुई। उनके शब्द हैं "पहले स्वदेश-प्रेम, फिर उस स्वदेशप्रेम का सहारा लेकर विश्वप्रेम।" उनकी दृष्टि से दो चीजें कभी ओझल नहीं होती थीं— गुरु श्री राकृष्णदेव और मातृभूमि भारत।

भारत के विभिन्न भागों का भ्रमण करके उन्होंने सुषुप्त भारत को जगाने का संकल्प लिया। देशवासियों की दरिद्रता, अशिक्षा, सामाजिक कुरीतियाँ, अँगरेजों की शोषणनीति आदि ने उनके अन्तस्तल को झकझोर दिया। यद्यपि वे स्वयं यदा-कदा भूखे रहते थे, तथापि भूखे-नंगे देशवासियों की अधोगति से बेचैन रहते थे। उन्हें नींद नहीं आती थी। उन्होंने तीव्ररूप से अनुभव किया कि

जब तक दरिद्रता का अभिशाप नहीं मिटेगा, आध्यात्मिक सीख बे-असर रहेगी।

कभी-कभी किसी भक्त सज्जन को आश्चर्य होता था, जब स्वामीजी उनसे ब्रह्मचर्चा न करके अन्नाभाव के कारण देशवासियों की दुर्गति की बात करते थे। उनकी आन्तरिक व्यथा एक बार इन शब्दों में फूट पड़ी— "जब तक हमारे देश का एक कुत्ता भी भूखा रहेगा, तब तक हमारा धर्म होगा उसे खिलाना और उसकी देख-भाल करना।" वे अपने मित्रों और शिष्यों को अकाल-पीड़ितों के लिए सर्वस्वत्याग की शिक्षा देते थे। वे जोर देकर कहते थे कि अपने स्वर्ग-लाभ से अच्छा दूसरों के कल्याण के लिए नरक को अंगीकार करना है। उन्होंने एक पत्र में लिखा है ... "जो लोग दुर्भिक्ष-निवारण का कार्य कर रहे हैं, उन्हें इस ओर भी ध्यान रखना चाहिए कि कहीं गरीबों के प्राप्तव्य को धोखेबाज न झपट लें।" धन्य है, उनकी व्यावहारिक सूझ-बूझ!

बंगाल में प्लेग का प्रकोप बढ़ा तो अपनी जान को हथेली पर रखकर पीड़ितों की सेवा में उन्होंने अग्रणी भूमिका निभाई। दुर्भिक्ष या महामारी से पीड़ित जनता के त्राण के लिए वे अद्भुत व्यस्तता का परिचय देते थे।

विदेशों की यात्राओं में भी वे अपनी मातृभूमि को सतत दृष्टिपथ में रखते थे। अमेरिका, इंग्लैण्ड, जापान आदि समुन्नत देशों में रहकर उन्होंने देशोद्धार हेतु कुछ मन्त्रों को अवश्य एकत्रित किया और अपने अनेकानेक क्रान्तिकारी पत्रों तथा भाषणों के माध्यम से देश-विदेश के सज्जनों को उद्बोधित किया।

दासता और दरिद्रता से मुक्ति पाने के लिए उनको उत्पीड़न और अशिक्षा के दलदल से अविलम्ब निकालना होगा। नारी-जागरण नहीं तो देशोत्थान नहीं। उन्होंने एक शिष्य के प्रश्न के उत्तर में यह स्पष्ट कर दिया है कि आदर्श नारीचरित्रों को छात्राओं के समक्ष रखते हुए धर्म, शिल्प, विज्ञान, गृहकार्य, स्वास्थ्य, रन्धन आदि सब विषयों का स्थूल मर्म सिखाना उचित है।

स्वामीजी ने देखा कि दरिद्र बालक-बालिकाएँ विद्यालयों या मठों में नहीं उपस्थित हो सकेंगे। अतः उन्होंने एक पत्र में लिखा है— “यदि पहाड़ मुहम्मद के पास न आए तो मुहम्मद ही पहाड़ के पास जाएगा। अर्थात् यदि गरीबों के लड़के विद्यालयों में न आ सकें तो उनके घर पर जाकर उन्हें सिखाना होगा। गरीब लोग इतने बेहाल हैं कि वे स्कूलों और पाठशालाओं में नहीं आ सकते।”

भारत की दलित जनता के उत्थान के लिए स्वामीजी विशेष चिन्तित थे। इस स्थिति के लिए उन्होंने देश के ब्राह्मणों को इन शब्दों में फटकारा— “उनके हाथों हमारा सनातन धर्म कैसा तुच्छ और भ्रष्ट हो गया है! अब हमारा धर्म किसमें रह गया है? केवल छुआछूत में और कहीं नहीं।” आशय यह कि उन्होंने छुआछूत के अभिशाप से मुक्त होने के लिए देशवासियों को उद्बोधित किया।

अनेकानेक सामाजिक कुरीतियों में वे बालविवाह को सर्वाधिक घातक मानते थे। वे अल्पवय की अबोध बालिकाओं के विवाह को माता-पिता या सगे-सम्बन्धियों का अक्षम्य, जघन्य अपराध मानते थे। सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए वे कठोर-से-कठोर दण्ड के पक्षपाती थे।

श्रीनगर से ३० सितम्बर १८९७ को स्वामी ब्रह्मानन्द को उन्होंने जो पत्र लिखा, उसमें उल्लिखित है— “भारतवासियों में स्वदेशी वस्तु काम में लाने की भावना जागृत करनी होगी तथा भारत की बनी

स्वामीजी इस निष्कर्ष पर आ गए थे कि जब तक अशिक्षा के गर्त से देश को बाहर नहीं किया जाएगा, देश में जागृति नहीं आएगी। उनकी दृष्टि में “शिक्षा का अर्थ है उस पूर्णता का विकास करना, जो सब मनुष्यों में पहले ही से विद्यमान है।” वे देश में ऐसी शिक्षा-साक्षरता के पक्षधर थे, जिससे हमारे सांस्कृतिक मूल्यों का क्षरण न हो। अतएव संस्कृत भाषा के ज्ञान को प्राथमिकता दी जाए। परन्तु अँगरेजी और विज्ञान की अवहेलना न की जाए।

वे रोजी-रोटी की समस्या के समाधान हेतु कृषि के अतिरिक्त तकनीकी शिक्षा को आवश्यक मानते थे। उनकी प्रबल इच्छा थी कि कुछ अविवाहित कर्मठ शिक्षित युवक जापान भेजे जाएँ। वे वहाँ से तकनीकी शिक्षा में पारंगत होकर देश के प्रौद्योगिक विकास में योगदान दें। वे शिक्षाप्रसार के लिए ऐसे मठों और विद्यालयों की स्थापना के पक्ष में थे, जिनमें अध्यापन-कार्य ब्रह्मचारियों और सन्यासियों के द्वारा सम्पादित हो। इस दिशा में उन्होंने बेलूर मठ में कार्य प्रारम्भ कर दिया था। उनका विश्वास था कि मुट्ठीभर सुयोग्य चरित्रवान् सेवाव्रती देश का नक्शा बदल सकते हैं।

स्वामीजी ने अपने भाषणों और पत्रों में अमेरिका और जापान की स्त्रियों की बड़ी प्रशंसा की है; क्योंकि वे सुशिक्षित और उद्यमी हैं। उन देशों में स्त्रियों की कद्र है। वे स्वतन्त्र और स्वाभिमानी हैं। उनमें निराशा और शैथिल्य नहीं है। हमारी वर्तमान अधोगति का जबरदस्त कारण स्त्रियों की नितान्त अवहेलना है। उन्होंने दृढ़ता के साथ इस बात का उल्लेख किया है कि कतिपय तथाकथित शास्त्रकारों और पाखण्डी पण्डितों-पुरोहितों ने भारतीय संस्कृति एवं धर्म की मूल भावना को विकृत करके स्त्रियों और शूद्रों को ऐसे बन्धनों में जकड़ दिया, जिससे उनका विकास अवरुद्ध हो गया और सारा देश पतनोन्मुख हो गया।

हुई वस्तुएँ भारत के बाहर भी बिक सकें, तदर्थ बाजार की व्यवस्था की ओर ध्यान देना होगा।”

इस प्रकार पराधीन देश के पुनर्जागरण हेतु उन्होंने समाज की अनेकानेक दुर्बलताओं पर चोट की और ‘शाश्वत प्रेम तथा निष्काम सेवा’ पर आधारित रचनात्मक कार्य-कलापों की ओर देशवासियों को उत्साहित किया। पर देश के सबसे बड़े दुश्मन वे विदेशी शासकों और देश के अमीरों-अभिजात वर्ग को मानते थे। वे जड़-मूल से इनकी समाप्ति चाहते थे। इसी से विदेशी शासकों को उन्होंने इन कठोर शब्दों में फटकारा— “यदि सारा भारतवर्ष मिलकर हिन्द महासागर के नीचे जितना कीचड़ है, सब उठाकर पाश्चात्य देशों पर फेंक मारे, तब भी आप लोगों ने हमारे विरुद्ध जो किया है, उसका अंश मात्र भी प्रतिशोध न होगा।” कितने देशभक्तों ने ऐसा आक्रोश व्यक्त किया है?

अभिजात वर्ग को इन्होंने एक नेक सलाह दी कि ‘वह अपने कुलीन तन्त्र की कन्न आप ही खोदे।’ इसी में उन्होंने उस वर्ग का और देश-दुनिया का कल्याण देखा। जमींदारों और अमीरों को उन्होंने विशाल जनसमुदाय के विकास के मार्ग में बहुत बड़ा बाधक माना है। स्वामीजी ने अनुभव किया कि मुट्ठीभर लोगों के अधिकार में सारी विद्या, बुद्धि और सम्पत्ति सिमटकर आ गई है। लाखों स्त्री-पुरुष अज्ञान के अन्धकार और अभाव के नरक में पड़े रहें। क्योंकि उनके धन मिलने पर या उनके विद्या सीखने पर समाज डँवाडोल हो जाएगा। उन्होंने राष्ट्रोत्थान के लिए गरीबों के शोषण को अविलम्ब समाप्त करने पर जोर दिया है।

उल्लेखनीय है कि कलकत्ता से प्रकाशित ‘उद्बोधन’ के सम्पादक को १९०० ई० में लिखित पत्र में उन्होंने पददलित श्रमिक वर्ग के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित की थी। उनके शब्द हैं— “भारत के हमेशा से पैरों तले कुचले हुए श्रमजीवियों! तुम

लोगों को मैं प्रणाम करता हूँ।” इतना ही नहीं, कुमारी हेल को लिखित एक पत्र में उन्होंने भविष्यवाणी की है— “अन्त में आएगा मजदूरों का राज्य।” इस आधार पर कोई उन्हें मार्क्सवादी या समाजवादी कह सकता है। किन्तु न तब तक रूस की सफल क्रान्ति हो पाई थी और न भारत में मार्क्सवाद के पैर जम पाए थे। ऐसे शब्दों में उनके निर्मल हृदय और दिव्य दृष्टि का प्रभाव था। उसी पत्र में उन्होंने यह भी लिख दिया है— “मैं समाजवादी हूँ। इसलिए नहीं कि मैं इसे पूर्णरूप से निर्दोष व्यवस्था मानता हूँ। परन्तु इसलिए कि रोटी न मिलने से आधी रोटी ही अच्छी है।”

प्रश्न यह है कि राष्ट्रीय जागरण-अभियान को अपनी मंजिल तक कौन ले जाएगा? स्कूलों, कालेजों में गुलामी शिक्षा प्राप्त करनेवाले युवक? नहीं। उन्होंने सेवाकार्यों में संलग्न देशवासियों से दृढ़तापूर्वक यह बात कही है— “आओ। पीछे मुड़कर मत देखो। अत्यन्त निकट और प्रिय सम्बन्धी रोते हों तो रोने दो। पीछे देखो ही मत। केवल आगे बढ़ते जाओ। भारतमाता कम-से-कम एक हजार युवकों का बलिदान चाहती है। मस्तिष्कवाले युवकों का, पशुओं का नहीं।”

स्वामीजी समन्वय के मूर्तरूप थे। उन्होंने सतत सहिष्णुता और शान्ति का सन्देश दिया। १९६३ ई० में शिकागो की धर्मसभा में उन्होंने पहले ही दिन साफ शब्दों में कहा— “हमलोग सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता में ही विश्वास नहीं करते, वरन् समस्त धर्मों को सच्चा मानकर ग्रहण करते हैं।” दिसम्बर १९६८ में बेलूर मठ के उद्घाटन-भाषण में भी उनके श्रीमुख से यह अमृतवाणी निःसृत हुई थी— “यह मठ मत-मतान्तरों तथा विभिन्न दृष्टिकोणों का समन्वय करेगा। विश्वबन्धुत्व तथा आपसी ऐक्य की जो उज्ज्वल ज्योति यहाँ उत्पन्न होगी, वह सारी दुनिया में फैलकर सुख और शान्ति का मार्ग

दिखाएगी।” वे साम्प्रदायिक एवं धार्मिक उन्माद को बेमानी और विनाशकारी मानते थे।

ध्यातव्य है कि वे विदेशियों को भारत के अध्यात्म से अवश्य प्रभावित करते थे, किन्तु उनके वैशिष्ट्य से आँख नहीं मूँदते थे। वे भारतीय अध्यात्म और पाश्चात्य विज्ञान के समन्वय में विश्वास रखते थे। यह भी उल्लेखनीय है कि सुसम्पन्न देशों की यात्रा करके तथा दीर्घ प्रवास के बावजूद उनके देशानुराग में कभी कोई कमी नहीं आई, बल्कि उसका रंग अधिकाधिक गाढ़ा होता गया। मातृभूमि सतत उनकी पुण्यभूमि बनी रही। एक-एक धूलकण पवित्र दिखने लगा। भारत से जो लाखों लोग अमेरिका-यूरोप गए हैं, क्या वे इससे अनुप्राणित होंगे?

स्वामीजी के देहत्याग के कतिपय वर्षों के बाद गांधीजी के नेतृत्व में विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए जो अहिंसात्मक युद्ध छेड़ा गया, उसकी प्रकृति और स्वामीजी के राष्ट्रीय जागरण-अभियान में अनेकानेक बिन्दुओं पर समानता पाई गई। स्पष्टतः स्वामीजी ने ऐसी सशक्त पृष्ठभूमि बना दी थी, जिससे गांधीजी और उनके अनुयायियों को मातृभूमि की मुक्ति के लिए सन्मार्ग साफ दिखाई देने लगा। यही कारण है कि गांधीजी के अनन्य अनुयायी विद्वान् राजनीतिज्ञ चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने इन शब्दों में स्वामीजी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की है— “वे ही भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के जनक हैं, हमारी राजनीतिक,

सांस्कृतिक और आध्यात्मिक स्वाधीनता के जनक वे ही हैं।”

चिरस्मरणीय है कि उन्होंने १८६७ में देशवासियों का आह्वान इन शब्दों में किया था— “आगामी पचास वर्षों के लिए तुम भारत माता को ही ईश्वर मानो और ऐसा समझकर उसकी सेवा करो।” अद्भुत संयोग है कि ठीक पचास वर्षों के बाद १९४७ में देश अँगरेजों के चंगुल से मुक्त हो गया।

स्पष्टतः राजनीति से कोसों दूर रहते हुए भी स्वामी विवेकानन्द ने पूर्ण आशावाद और दृढ़निश्चय का संवल लेकर मानवतावाद पर आधारित जिस स्वदेशानुराग का शंख फूँका, वह युग-युगान्तर तक हमारा प्रेरणास्रोत बना रहेगा। इसमें पाश्चात्य-स्वार्थ केन्द्रित राष्ट्रीयता की गन्ध बिलकुल नहीं है। स्वामीजी ने दिव्य दृष्टि से भारत की जागृति को देखते हुए उद्घोषित किया कि भावी भारत प्राचीन भारत की अपेक्षा अधिक महान् होगा। प्रबुद्ध भारत दिग्भ्रमित दुनिया के लिए वरदान सिद्ध होगा। इसीसे उनकी अन्तरात्मा बोल उठी— “एक बार फिर जागो। आकुल विश्व तुम्हें निहार रहा है।” हे सत्य! तुम अमर हो।

अजवतारा कालोनी,
मधुबनी,
(बिहार)



न तन्मित्रं यस्य कोपाद् विभेति यद् वा मित्रं शंक्तेनोपचर्यम् ।
यस्मिन् मित्रे पितरीवाशवसीत तद् वै मित्रं संगतानीतराणि ॥

वह मित्र नहीं, जिसके क्रोध से डरना पड़ता हो तथा सशक्ति होकर सेवा करना पड़ता हो।
मित्र तो वह है, जिसपर पिता की तरह विश्वास किया जाए। अन्य तो मात्र संगी हैं।

पाठकीय प्रतिक्रिया

धर्मायण का ६२वाँ अंक पढ़ा। यह इतना अच्छा लगा कि तल्लीन हो गया। विभिन्न विषयों पर शीर्षस्थ विद्वानों एवं सिद्ध हस्ताक्षरों की आकर्षणपूर्ण तथा उपादेय रचनाओं को पढ़कर विमुग्ध हो गया। धार्मिक एवं आध्यात्मिक भावों का संगम सम्भवतः 'कल्याण' के बाद मुझे इसी पत्रिका में देखने को मिला। अतिशयोक्ति न हो तो कहना चाहूँगा कि भाव-गाम्भीर्य के दृष्टिकोण से उससे भी उत्तम। सम्पादकीय से लेकर प्रायः सभी रचनाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा मूल्यवान् हैं। "को बड़ छोट कहत अपराधू।" किसको छोटा और किसको बड़ा कहूँ? मेरे सामने प्रश्न है। अतिसंक्षेप में कहना चाहूँगा कि 'धर्मायण' की प्रत्येक कृति निश्चित रूप से पठनीय है, स्तरीय है, संग्रहणीय है। इस भयंकर भौतिकवादी युग में यह पत्रिका मनुष्य को पतन के गर्त से उबारने में उद्धार-रज्जु का काम करेगी।

आचार्य किशोर कुणालजी का विषय-चयन बड़ा ही समसामयिक एवं समीचीन है। मनु और मनुवादी व्यवस्था आज के युग में एक घोर अपमान का प्रतीक है। आचार्य ने मनु के बारे में बताकर बड़ा ही उपकार किया है। समाज के सामने मनु की वास्तविकता रखकर बहुत बड़ा काम किया है। वे सचमुच साधुवाद के पात्र हैं। पुण्यश्लोक परमहंस रामचन्द्रजी के बारे में बताकर सम्पादक ने समाज की माँग को पूरा किया है। उन्हें बहुत-बहुत धन्यवाद।

मुफलिस

चौधरी टोला,
डुमराँव, बक्सर
पिन-८०२११६



'धर्मायण' का ६२वाँ अंक देखा। इतनी अच्छी ज्ञानविकासी सामग्री का संकलन स्तुत्य है। वास्तव में यह पत्रिका मानवीय मूल्यों के उत्थान का सुदृढ़ सोपान है। धर्म, संस्कृति और राष्ट्रीयता का संवहन करनेवाली यह पत्रिका पहली बार मेरे हाथ लगी और पढ़कर बहुत कुछ सीखने-समझने को मिला।

अंक ६२ वें की एक-एक सामग्री प्रशंसनीय है। भक्ति की महिमा को उद्घाटित करनेवाला सम्पादकीय, भगवान् शंकर के प्राकट्य और एकादश रुद्रों के बारे में विस्तृत ज्ञान प्रदान करनेवाला 'हर हर महादेव' आदि शंकराचार्य द्वारा रचित सुमधुर दशावतारस्तोत्र, मनुस्मृति के वास्तविक रचयिता तथा मनु का विस्तृत परिचय करानेवाला 'आदि पुरुष मनु महाराज और मनुस्मृति का रचयिता सुमति भार्गव', सरल, सहज, छोटे-छोटे वाक्यों में श्रीकृष्णकथा पर आधारित 'सूरसाहित्य में द्वन्द्व समास, ऐतिहासिक तथ्यों को उद्घाटित करनेवाला, 'पाटलिपुत्र के राधावल्लभ-सम्प्रदाय की आचार्य-परम्परा', अतृप्त वासना से ऊपर उठने की राह दिखानेवाला वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः', सिद्धि माता की सिद्धि को सिद्ध करनेवाला 'सिद्धि माता', कैकेयी के कलंक को मार्जित करनेवाला

‘राष्ट्रहितैषिणी वीरांगना : माता कैकेयी’, श्री रामकृष्ण परम-हंस के अन्तर्मूल-स्वरूप ‘धर्म में समन्वय की भावना’, ठोस रूप में गीतासम्मत सन्मार्ग देनेवाला ‘बन्धनदायक है आसुरी सम्पत्ति’, हिन्दुस्तान एवं हिन्दू धर्म की विशेषताओं पर आधारित देशी-विदेशी विद्वानों के कथनों का संग्रहपूर्ण लेख ‘विश्वविख्यात विचारकों की दृष्टि में हिन्दुस्तान एवं हिन्दुत्व’, संस्कारों की महिमा को पुष्ट करता ‘संस्कारों के लौकिक एवं पारलौकिक महत्त्व’, कबीरदास की धार्मिक भावना को उद्घाटित करता ‘कबीर साहब की संवेदनशीलता, विदेशी विद्वान् फादर कामिल बुल्के पर पड़ी भारतीय छाप को रजित करता ‘हिन्दीसेवी विदेशी सन्त : डा० बुल्के’, कन्या-भ्रूण की हत्या को संवेदना के धरातल पर समाज को उचित दिशानिर्देश करती संस्कृत कृति ‘भ्रूण-पंचाशिका’ तथा ज्योतिष के समकालीन विषय पर आधारित ‘गोचर में सिंह राशिगत बृहस्पति का प्रभाव’ पढ़कर ऐसा लगा कि ‘धर्मायण’ अपने नाम के ही अनुरूप है।
प्रेम कुमार मिश्र,
बागबेड़ा, जमशेदपुर,
(झारखण्ड)

व्रत-त्यूहार

अक्टूबर से दिसम्बर तक	दिन	दिनांक
महानवमी	शनिवार	०४/१०/२००३
विजया दशमी	रविवार	०५/१०/२००३
पापांकुशा एकादशी (सबकी)	सोमवार	०६/१०/२००३
व्रत की शारदीया पूर्णिमा / कोजागरी	बृहस्पतिवार	०६/१०/२००३
स्नान, दान आदि की पूर्णिमा	शुक्रवार	१०/१०/२००३
संकष्टी गणेशचतुर्थीव्रत / करवाचौथ	सोमवार	१३/१०/२००३
रम्भा एकादशी (सबकी)	मंगलवार	२१/१०/२००३
धन्वन्तरी-जयन्ती (धनतेरस)	बृहस्पतिवार	२३/१०/२००३
हनुमज्जयन्ती	शुक्रवार	२४/१०/२००३
दोषावली	शनिवार	२५/१०/२००३
भैयादूज / चित्रगुप्तपूजा	सोमवार	२७/१०/२००३
वैनायकी गणेश चतुर्थी व्रत	मंगलवार	२८/१०/२००३
सूर्यषष्ठी (छठ) व्रत	बृहस्पतिवार	३०/१०/२००३
अक्षय नवमी	रविवार	०२/११/२००३
हरिप्रबोधिनी एकादशी / देवोत्थान		
एकादशी (सबकी)	मंगलवार	०४/११/२००३
कार्तिक पूर्णिमा / गुरुनानक जयन्ती	शनिवार	०८/११/२००३
संकष्टी गणेश चतुर्थी व्रत	बुधवार	१२/११/२००३
उत्पन्ना एकादशी (सबकी)	बृहस्पतिवार	२०/११/२००३
शिवरात्रिव्रत	शनिवार	२२/११/२००३
स्नान, दान आदि की अमावस्या	रविवार	२३/११/२००३
वैनायकी गणेशचतुर्थी व्रत	बृहस्पतिवार	२७/११/२००३
श्रीरामविवाह-दिवस (विवाहपंचमी)	शुक्रवार	२८/११/२००३
मोक्षदा एकादशी (सबकी) / गीता जयन्ती	बृहस्पतिवार	०४/१२/२००३
स्नान, दान व्रत, आदि की पूर्णिमा	सोमवार	०८/१२/२००३
संकष्टी गणेशचतुर्थीव्रत	शुक्रवार	१२/१२/२००३
सफला एकादशी (सबकी)	शुक्रवार	१६/१२/२००३
शिवरात्रिव्रत	रविवार	२१/१२/२००३
स्नान, दान आदि की अमावस्या	मंगलवार	२३/१२/२००३
वैनायकी गणेशचतुर्थीव्रत	शुक्रवार	२६/१२/२००३

वेदवाणी

आज प्रदूषणरूपी राक्षस समस्त संसार को निगल जाने के लिए तैयार है और हम भौतिकवाद के मायाजाल में फँसकर अपने विनाश का निमित्त बनते जा रहे हैं। आज वृक्षों की कटाई के कारण अनेक प्रकार से प्राकृतिक प्रकोप झेलने पड़ते हैं। प्राचीन काल में हमारे प्रबुद्ध पूर्वजों ने उर्ध्वभिज वर्ग के आन्तरिक और बाह्य गुणों को परखा था, जाना था; इसलिए उन्होंने इसके संरक्षण और पोषण पर बल दिया था। विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद के ऋषियों को भी वनस्पतियों में विद्यमान रोगनिवारक शक्ति का ज्ञान था; जिसका एक उत्तम निदर्शन है दशम मण्डल के सन्तानबेवें सूक्त के रूप में विख्यात 'ओषधि-सूक्त', जिसकी ऋचाएँ उपन्यस्त की जा रही हैं।

**या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ।
मने नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सस च ॥**

मैं देवताओं से भी तीन युग पहले उत्पन्न हुई भूरे रंग की एक सौ सात प्रकार की ओषधियों के स्थान को जानता हूँ।

**शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः ।
अथा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत ॥**

हे ओषधि-रूप माताओ! तुम्हारे सैकड़ों उत्पत्तिस्थान हैं, तुम्हारे हजारों अंकुर हैं तथा इसके अतिरिक्त सैकड़ों सामर्थ्य को धारण करनेवाली हो। तुम सब मेरे इस रोगी को नीरोग करो।

**ओषधीः प्रति मोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः ।
अश्वाइव सजित्वरीवीरुधः पारयिष्वः ॥**

हे ओषधियो! तुम सब पुष्पों और फूलों से परिपूर्ण होकर प्रसन्न होओ। अश्वों के समान शत्रुओं को पराजित करने में तीव्र लताएँ रोगों एवं कष्टों से हमें पार कराएँ।

**ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप बुवे ।
सनेयमश्वं गां वास आत्मानं तव पूरुष ॥**

हे ओषधियो! हे माताओ! मैं तुम सब के पास आकर तुम सबसे यही याचना करता हूँ कि मुझपर इतनी कृपा करो कि मैं घोड़ा, गाय एवं वस्त्र (चिकित्सात्मक दक्षिणा के रूप में) प्राप्त कर सकूँ। (रोगी को सम्बोधित करते हुए) हे रुग्ण पुरुष! मैं तुझे रोगमुक्त कर तेरे मन को जीत सकूँ।

**अश्वत्ये वो निषदनं पूर्णे वो वसतिष्कृता ।
गोभाज इत् कित्तासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥**

(हे ओषधियो!) तुम्हारे विश्राम की व्यवस्था पीपल के पेड़ पर तथा निवास की व्यवस्था पलाश के पेड़ पर की गई है। यदि तुम सब इस रोगी को रोगमुक्त कर देती हो तो तुम्हारे माध्यम से मुझे गायें मिल जाएंगी।

**यत्रौषधीः समम्पत राजानः समिताविव ।
विप्रः स उच्यते भिषग्गक्षोहामीवचातनः ॥**

जैसे राजा लोग समिति में विराजमान होते हैं, वैसे ही जिसके यहाँ अनेक ओषधियाँ एक जगह जुटती हैं, वह विद्वान् चिकित्सक कहलाता है। ऐसा वैद्य राक्षसरूपी रोगों का निवारक होता है।

**अश्वावतीं सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम् ।
आवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये ॥**

अश्वदायिनी (चिकित्सक के लिए), सोम्या, शक्तिमती, ओजस्विनी (इन विशेषणों से युक्त) इन सब ओषधियों को मैं जानता हूँ, जो इस रोगी के रोग को दूर करने के लिए उपयुक्त हैं।



(क्रमशः)

महावीर मन्दिर के अन्तर्गत अब पाँच और देवविग्रहों के दर्शन हो रहे हैं। ये विग्रहरूप हैं भगवान् गणेश, भगवान् बुद्ध, भगवान् सत्यनारायण, जयमाल पहनाती जगज्जननी सीता एवं जयमाल स्वीकार करते भगवान् श्रीराम। मूर्तिकला के उत्तम उदाहरण-स्वरूप ये विशाल एवं दिव्य प्रतिभाएँ भक्तों के हृदय को आह्लादित करती हैं। सबसे बड़ा वैशिष्ट्य तो यह है कि पटना जंक्शन आते-जाते यात्रियों को बिना मन्दिर में प्रवेश के ही इनके दर्शन सुलभ हो जाते हैं। जहाँ भगवान् गणेश के दर्शन से विघ्नों का निवारण हो जाता है, वहीं ध्यानावस्था में आसीन भगवान् बुद्ध के दर्शन से बुद्धि उद्बुद्ध हो जाती है।

सत्यनारायण कलिकाल के प्रतिगृह पूजित देव हैं। इनकी कथा से जिस फल की प्राप्ति होती है, वही फल दर्शन से भी सुलभ है। इसी तरह स्वयंवर-सभा के दृश्य को उपस्थित करती सीताजी और रघुनन्दन श्रीराम की प्रतिभाएँ विजयफल प्रदान करनेवाली हैं। अब प्रभु के अनेक लीलाविग्रहों से भक्तिधाम महावीर मन्दिर और अधिक भव्य-भूतिमान् हो गया है।

इन श्रीविग्रहों की स्थापना त्रिदिवसीय (दिनांक ०२.११.२००३-०४.११.२००३) वैदिक यज्ञ में हुई। काशी से पद्यारे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद के अलग-अलग विशेषज्ञ विद्वानों के मन्त्रोच्चार-पूर्वक यह यज्ञ सम्पन्न हुआ।

जहाँ भक्तों के दर्शन-लाभार्थ इन पाँच प्रतिमाओं की प्राणप्रतिष्ठा हुई, वहीं २ नवम्बर (अक्षय नवमी) को पठन एवं श्रवण-लाभार्थ बिहार के महामहिमा राज्यपाल श्री एम० रामा० जोइस के कर-कमलों द्वारा दो पुस्तकों का लोकार्पण किया गया। ये दो पुस्तकें हैं—**बुद्धावताराय नमो नमस्ते** एवं **बृहत् श्रीसत्यनारायण-पूजा-प्रकाशः**।

बुद्धावताराय नमो नमस्ते आचार्य किशोर कुणालजी द्वारा संगृहीत एवं सम्पादित भगवान् बुद्ध-सम्बन्धी उन आर्ष वाक्यों एवं स्तोत्रों का प्राणवान् निदर्शन है, जिनसे यह प्रमाणित होता है कि बुद्धावतार भगवान् श्रीहरि का नवम अवतार है। लेखक का 'पुरोवाक्' भी स्पष्ट करता है— "बहुत से भक्तों ने जिज्ञासा प्रकट की है कि भगवान् बुद्ध को विष्णु का अवतार मानने की शास्त्रीय परम्परा क्या है? उन भक्तों की जिज्ञासा के शमन हेतु शास्त्रों का मन्थन कर इसका (बुद्धावताराय नमो नमस्ते का) संकलन किया गया है।"

इस कमनीय कृति में पुराणों के अतिरिक्त प्राचीन धर्माचार्यों, ऋषियों, कवियों आदि के कथनों का समाकलन स्तुत्य है।

बृहत् श्रीसत्यनारायण-पूजा-प्रकाशः लोकप्रचलित सत्यनारायणकथा का भविष्यपुराणीय संकलन है, जिसका स्वरूप पंचाध्यायी या सप्ताध्यायी न होकर षष्ठाध्यायी है। इस पुस्तक की अन्य विशेषताओं में है पूजापद्धति के अतिरिक्त नारायणसूक्त, नारायणोपनिषद्, नारायणहृदय, नारायणकवच, नारायण-लीलावतार, सत्यव्रत-स्तुति, नारदगीता आदि वैदिक, औपनिषदिक एवं पौराणिक अंशों का संकलन। आचार्य कुणाल किशोरजी द्वारा लिखित इसकी प्रस्तावना की प्रौढ़ि नई दृष्टि प्रदान करती है।

इस संग्रहणीय तथा अध्ययनीय पुस्तक का सम्पादन प्रख्यात विद्वत्-चतुष्टय-आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, प्रो० काशीनाथ मिश्र, आचार्य किशोर कुणाल एवं प्रो० कृष्णानन्द झा के द्वारा हुआ है।



महावीर कैसर संस्थान : आशा की एक किरण

पटना जंक्शन परिसर के मुख्य प्रवेश द्वार पर अवस्थित महावीर मन्दिर हिन्दुओं का एक पवित्र धर्मस्थल है। मन्दिर के क्रियाकलाप आज उन तमाम लोगों के लिए एकमात्र सहारा बना हुआ है, जो उपेक्षित हैं, कमजोर हैं और निर्धन हैं। ऐसे लोगों की पीड़ा को बाँटने में मन्दिर और इसकी सहायक संस्थाएँ अग्रणी भूमिका निभा रही हैं।

सन् १९८६ में सर्वप्रथम कंकड़बाग में ऐसे ही उपेक्षित और असहाय लोगों के लिए "महावीर आरोग्य संस्थान" की स्थापना की गई। इस संस्थान की उपयोगिता से उत्साहित होकर मन्दिर के ट्रस्टीज ने इस क्षेत्र के लोगों के लिए और अधिक स्वास्थ्य-केन्द्र खोलने की सोची। प्राप्त संसाधनों को देखते हुए एक "कैसर केयर सेन्टर" स्थापित करने का विचार किया। उस समय इस क्षेत्र में ऐसा एक भी सेन्टर नहीं था और पीड़ित लोगों को दिल्ली, बम्बई आदि शहरों का चक्कर लगाना पड़ता था। अतः पटना में एक ऐसे कैसर संस्थान स्थापित करने का निर्णय लिया गया जिसमें आधुनिक चिकित्सा कम-से-कम खर्च पर उपलब्ध हो सके। और इस प्रकार पटना के फुलवारी शरीफ में महावीर कैसर संस्थान की स्थापना की गई। आचार्य किशोर कुणाल की दूरदर्शिता और मार्गदर्शन में आज यह संस्थान नित्य नई मंजिल तय कर रहा है।

आज यहाँ जाति, धर्म और अमीर-गरीब में फर्क किए बिना सभी पीड़ितों का समुचित इलाज किया जाता है। संस्थान का मुख्य स्त्रोत महावीर मन्दिर और कुछ उत्साही तथा मानवता के लिए कोमल हृदय रखनेवालों के दान है। आज इस संस्थान का सर्वाधिक लाभ समाज के कमजोर वर्ग के लोग उठा रहे हैं।

संस्थान के मुख्य उद्देश्य:-

यह सुनिश्चित करना कि एक भी मरीज चाहे वह किसी जाति, धर्म, सम्प्रदाय, वर्ग और आर्थिक स्तर का हो, बिना इलाज पाए यहाँ से नहीं जाए।

- ❖ संस्थान को एक उच्चस्तरीय स्थान मिले ताकि यह संस्थान देश का एक गौरवशाली संस्थान की संज्ञा पा सके। ❖ एक छत के नीचे सभी प्रकार की जाँच और इलाज सम्भव करना। संक्षिप्त और सम्पूर्ण इलाज। अत्याधुनिक उपकरणों से अत्याधुनिक उपचार। आधारभूत शोध। कैसर पीड़ित मरीजों और उनके परिवार को सभी प्रकार के सहयोग एवं उनके पुनर्वास की व्यवस्था। ❖ लोगों को कैसर के प्रति जागरूकता पैदा करना एवं शैक्षणिक कार्यक्रमों का संचालन। ❖ चिकित्सकों के लाभार्थ सेमिनार, कार्यशाला एवं वैज्ञानिकवार्ताओं का आयोजन।

महावीर कैसर संस्थान में उपलब्ध सहायता:-

सभी प्रकार की जाँच की सुविधा और तदनुसार उसके इलाज की सलाह। कैसर की अवस्था और उसके प्रकार का पता चलने पर 'बोर्ड' बैठकर जिसमें सभी प्रकार के विशेषज्ञ चिकित्सक होते हैं, इलाज का पद्धति की निर्धारण, एक्स-रे, कॉलर ड्राप्लर, अल्ट्रासाउण्ड, मैमोग्राफी, स्याइरल सी०टी०स्कैन, बायोकेमिकल जाँच के साथ-साथ सभी प्रकार के हेमेटोलॉजिकल जाँच स्वचालित मशीनों द्वारा ट्यूमर मार्कर, साइटोलॉजी एवं हिस्टोपैथोलॉजी की व्यवस्था।

❖ ब्रैंकोस्कोपी, साईटो-स्कोपी, इण्डोस्कोपी और कॉलोनोस्कोपी की व्यवस्था है। ❖ अत्याधुनिक संयंत्रों से सुसज्जित पाँच ऑपरेशन थियेटर हैं। लेजर से ऑपरेशन की सुविधा भी उपलब्ध है। रेडियेशन विभाग में कोबाल्ट ७८० ई० यूनिट है। उपचार योजना-पद्धति तथा एच०डी०आर० ब्रैकिथरेपी यूनिट भी है। ❖ पूर्णतः विकसित किमोथेरेपी वार्ड है। २०० शय्यावाले इण्डोर वार्ड है। २४ घण्टे इन्टेसिव केयर की व्यवस्था है। ❖ ब्लड बैंक, औषधालय तथा रियायती दर पर कैटिन की सुविधा है। ❖ पर्याप्त एम्बुलेंस की व्यवस्था है।

संस्थान की भावी योजना:

❖ संस्थान के इण्डोर रोगियों के लिए २०० ❖ रेडियोथेरेपी विभाग के लिए लीनियर एक्सीलेरेटर लगाना। ❖ शय्या को बढ़ाकर ५०० करना। ❖ मैट्रो-ट्रांसप्लान्ट की व्यवस्था। ❖ न्यूक्लीयर मेडिसीन विभाग की स्थापना। ❖ दर्द निवारक क्लिनिक की स्थापना। ❖ १०० विस्तरवाली एक धर्मशाला की स्थापना करना।

संस्थान की मान्यता:

संस्थान को निम्न संस्थाओं से मान्यता प्राप्त है:

- ❖ नेशनल बोर्ड ऑफ एंजामीनेशन (डी०एन०बी०) से कैसर में स्नातकोत्तर अध्ययन। ❖ इण्डियन कांसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च। ❖ भारत सरकार का स्वास्थ्य विभाग। ❖ रेल मन्त्रालय, भारत सरकार। ❖ डिपार्टमेंट ऑफ एटॉमिक एनर्जी कमीशन। ❖ नेशनल कैसर कन्ट्रोल प्रोग्राम। ❖ केन्द्र सरकार की स्वास्थ्य योजना। ❖ इण्डियन ऑयल कॉरपोरेशन लिमिटेड। ❖ नेशनल थर्मल पावर कॉरपोरेशन। ❖ विभिन्न बैंक एवं अन्य संस्थान।



महावीर कैसर संस्थान, पटना के सौजन्य से